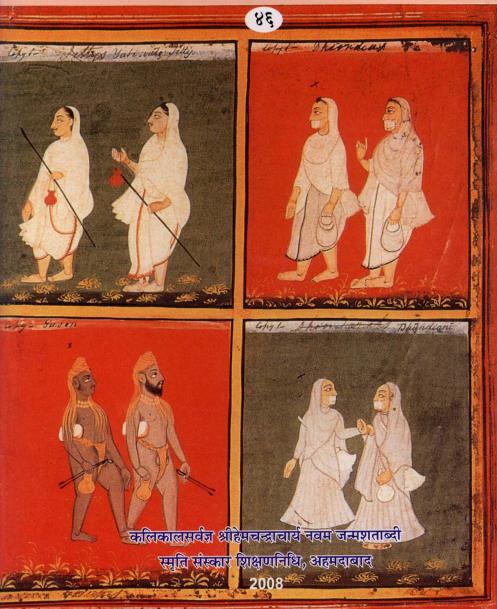


मोहरिते सच्चवयणस्स पलिमंथू (ठाणंगसुत्त, ५२९)

अनुसंधान

प्राकृतभाषा अने जैनसाहित्य विषयक संपादन, संशोधन, माहिती वगेरेनी पत्रिका

संपादक: विजयशीलचन्द्रसूरि



मोहरिते सच्चवयणस्स पिलमंथू (ठाणंगसुत्त, ५२९) 'मुखरता सत्यवचननी विघातक छे'

अनुसंधान

प्राकृतभाषा अने जैनसाहित्य-विषयक सम्पादन, संशोधन, माहिती वगेरेनी पत्रिका



सम्पादकः विजयशीलचन्द्रसूरि



श्रीहेमचन्द्राचार्य

किलकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य नवम जन्मशताब्दी स्मृति संस्कार शिक्षणनिधि अहमदाबाद २००८

अनुसन्धान ४६

आद्य सम्पादक: डॉ. हरिवल्लभ भायाणी

सम्पादक: विजयशीलचन्द्रसूरि

सम्पर्क: C/o. अतुल एच. कापडिया

A-9, जागृति फ्लेट्स, पालडी

महावीर टावर पाछळ अमदावाद-३८०००७ फोन: ०७९-२६५७४९८१

प्रकाशक: कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य नवम जन्मशताब्दी स्मृति संस्कार शिक्षणनिधि, अहमदाबाद

प्राप्तिस्थान: (१) आ. भ्रीविजयनेमिसूरि जैन स्वाध्याय मन्दिर १२, भगतबाग, जैननगर, नवा शारदामन्दिर रोड, आणंदजी कल्याणजी पेढीनी बाजुमां, अमदावाद-३८००७

> (२) सरस्वती पुस्तक भण्डार ११२, हाथीखाना, रतनपोल, अमदावाद-३८०००१

मूल्य: Rs. 80-00

मुद्रक:

क्रिश्ना ग्राफिक्स, किरीट हरजीभाई पटेल ९६६, नारणपुरा जूना गाम, अमदावाद-३८००१३ (फोन: ०७९-२७४९४३९३)

निवेदन

संशोधन ओ बहुधा आनन्ददायक बाबत बनती होय छे; पण बहुधा; हमेशां नहि. ऊलटुं, घणीवार तो ते आघातजनक बनी जतुं होय छे. संशोधन हमेशां सत्यपरस्त ओटले के सत्यतरफी पदार्थ होय छे, अने सत्यनो स्वभाव, मोटे भागे आघात आपवानो होय छे.

आघात जन्मावे तेवा संशोधननो अस्वीकार के तिरस्कार करे तेनुं नाम सम्प्रदाय. सम्प्रदायने जेटलो 'पोताना स्वीकारेला सत्य' साथे लगाव होय छे, तेटलो लगाव 'संशोधनना सत्य' साथे नथी होतो. आथी ज संशोधननुं सत्य उजागर थईने सामे आवे त्यारे सम्प्रदायमां (के साम्प्रदायिक मानसमां) भारे असुख व्यापी जतुं जोवा मळे छे.

धर्मनुं क्षेत्र कहो के तत्त्व, आवुं आछकलुं नथी होतुं. धर्म स्वयं अेक सनातन सत्य तत्त्व छे, सत्यना पाया उपर ते निर्भर होय छे, अने सत्य सिवाय अन्य कशा साथे तेने लेवा-देवा होती नथी; माटे संशोधननुं सत्य रजू थाय त्यारे धर्म वधु जळहळी ऊठे छे, वधु प्राणवान बने छे, वधु समृद्ध बने छे. वास्तविकता ओ छे के संशोधनना सत्यनो इन्कार ज धर्मने साम्प्रदायिक संकोच भणी धकेली मूके छे. आ स्थिति थकी बचवानो अने बहार आववानो उपाय एक ज: सत्यने-संशोधनना सत्यने मूलववानी विवेकदृष्टि केळवी लेवी, अने नीरक्षीरन्याये उचितनो स्वीकार अने अन्यनो अस्वीकार करवानी क्षमता प्रगटाववी.

+

महायोगीराज आनन्दघनजी महाराजनुं गणातुं अेक प्रसिद्ध पद, 'अवसर बेर बेर नहीं आवे' अ आनन्दघनजीनुं रचेलुं पद नथी, परंतु तेमना करतां एकाद सैको वहेलां थई गयेल वैष्णव भक्तकिव सूरदासनुं रचेलुं छे, अने पाछळना काळमां ते आनन्दघनजीना नामे, बीजां केटलांक पदोनी जेम, चडी गयुं छे, आवुं कहेवामां आवे, तो केटलो आघात थाय ! परन्तु, आपणने आघात थाय तेटला मात्रथी हकीकत कांई बदलाई शके नहि.

खरेखर तो आपणे शोधक दृष्टि विकसाववी घटे. सांभळवामां सारुं

लागे के तरत मनगमता किवना नाम साथे जोडी दइओ, अने ते पछी तेना शब्दो तथा भावोने तपास्या विना, किवनां अन्य पदोमां थती रजूआत करतां साव नोखी अने किवनी आध्यात्मिक ऊंचाई साथे तालमेळ निह धरावती रचनाने पण किवना नामे चलावीओ, तो तेमां खामी आपणी विवेकशील शोधक दृष्टिनी ज गणवी पडे.

ताजेतरमां अेक रमूजप्रेरक घटना बनी. अमदावादमां ज्ञानपंचमी-पर्वना निमित्ते ठेर ठेर ज्ञान-प्रदर्शनो योजातां होय छे. पालडीस्थित श्रीसुरेन्द्रसूरिजैन तत्त्वज्ञानशाळामां पण आवुं प्रदर्शन योजायेलुं. तेमां मुगल बादशाह अकबरनुं अेक जीवदयाने लगतुं फरमान रजू करवामां आवेलुं. तेनो सचित्र परिचय 'गुजरात समाचार (ता. ४-११-०८)'मां आ प्रमाणे आपवामां आवेलो : ''शहेनशाह अकबरे गुरुवर्य श्रीहीरसूरि महाराज साहेबने ५०० वर्ष पहेलां १२ फूट लांबा कपडाना पट्टा पर उर्दू भाषामां पोताना दिल्हीना दरबारमां पर्धारवा आमन्त्रण आप्युं हतुं ते आखी कपडानी ओरीजीनल आखी प्रतने पण प्रदर्शनमां मूकवामां आवी छे. आ कपडानी प्रत पर शहेनशाह अकबरना सील पण मारेलां छे.''

आ आखीय बाबत रमूजप्रेरक अंटला माटे छे के सर्वप्रथम तो अकबरना उपलब्ध एक पण पत्र के फरमान कपडा उपर आलेखायेल नथी. वळी, ते १२ फूट लांबा नथी होता. ते कागळ उपर ज लखायेल पत्र रूपे होय छे, अने ते पण केवळ काळी शाहीथी ज लखवामां आवता होई, रंगबेरंगी चित्रात्मक सुशोभनो के आकृतिओने तेना पत्रोमां कोई ज स्थान नथी होतुं. जैनोने मळेला मोटा भागना फरमान-पत्रो, पारसी विद्वान कोमिसरियेटे पोताना ग्रन्थोमां छापेला छे, अने श्रीहीरविजयसूरिने मळेल फरमान-पत्रो 'सूरीश्वर अने सम्राट्' इत्यादि ग्रन्थोमां प्रकाशित छे. ते जोवाथी ज शाही पत्रो केवी रीते लखाता तेनो ख्याल आवी शके तेम छे.

वात ओम छे के पुरातन पदार्थोंनो व्यापार करनारा व्यापारीओ, आवी अनेक चीजो नकली तैयार करे-करावे छे, अने हजारो ने लाखोमां ते वेचे छे. जेमने आगळ-पाछळनुं ज्ञान न होय अने परीक्षा पण न होय तेवा लोको आवी चीजो जोईने अंजाई जता होय छे, अने मोटी रकम खरचीने खरीदता पण होय छे. पैसानो दुर्व्यय तो थाय ज, पण ते करतां वधु वसमुं तो अ लागे के आवी जाली चीजोने, आ रीते, विवेक विना तेमज शोधक दृष्टि विना ज, समाज-समक्ष मूकवामां आवे छे, अने समाजने खोटो इतिहास पीरसवामां आवे छे. बाकी, आवो महत्त्वपूर्ण पत्र, आटलां वर्षोथी अप्राप्य अने अज्ञात रहे, अने वळी लेश पण फाट्यातूट्या के चहेराया-बगड्या विना अकबंध स्थितिमां-वेचातो-मळी आवे, अ वात ज केटलीबधी विचित्र अने मानी न शकाय तेवी गणाय!

+

अेक अैतिहासिक महत्त्व धरावती विडम्बना छे **हिमवन्तथेरावली.** श्रीहिमवन्तसूरि नामना आचार्य महाराजे रचेली होवानी मनाती आ थेरावली अे संस्कृतिमिश्रित प्राकृत (महाराष्ट्री) भाषामां लखायेल अेक आधुनिक निबन्धमात्र होवानुं, तेनां बाह्यान्तर परीक्षणो थकी सुस्पष्ट जणातुं होवा छतां, तेने विक्रमनी त्रीजी शताब्दीनी रचना मानीने चालवुं, अे केटलुं तो विचित्र अने शोध-विवेक-विहोणुं बनी रहे तेम छे!

अेनी गाथाओमां छन्दोभंगनो पार नथी. तेना गद्य विभागमां पण भारो-भार आधुनिक रीति अने भाषानो उपयोग छे. केटलीक गाथाओ तो सीधी नन्दीसूत्रनी थेरावलीमांथी ज उठावेली छे. वळी, प्राकृतना लांबा लखाण पछी अेकाअेक संस्कृत लेख चालु थई जाय छे. उमास्वाति माटे उमसाइ अने तत्त्वार्थसूत्र माटे तत्तत्थसुत्त जेवा प्रयोगो द्वारा भाषाकीय कृतकता आपोआप साबित थई शके छे. हिमवन्तआचार्य तो युगप्रधान भगवंत हता, होवा जोईओ. तेमने माटे नन्दीसूत्रमां हिमवन्तखमासमण शब्द प्रयोजायो छे ज. तेमनी भाषा अने वाक्यनी तेमज पद्यनी रचना आटली छीछरी न होई शके. आर्ष रचनानो आ कृतिमां अेकादो छांटो पण जोवा नथी मळतो. वधुमां, आ आखा निबन्धमां सिलसिलाबंध घटनाओ, सालवारी, राजाओनी तथा गुरुओनी क्रमिक परम्परा-आ बधांनुं जे रीते आलेखन छे तेवुं तो मध्यकाळना प्रबन्धग्रन्थोमां पण आलेखन थयेलुं जोवा नथी मळतुं!

समग्रपणे आ निबन्धनो अभ्यास करतां स्पष्ट थाय छे के आ आखोये निबन्ध, गुजराती भाषामां लखायेला कोई, जैन इतिहासनुं वर्णन करतां पुस्तक/ पुस्तकोना आधारे रचायेलो निबन्धमात्र छे. ते पण वीसमा सैकामां ज लखायेलो होवानुं वधारे सम्भवित छे.

आपणे त्यां वलभीपुरनी वाचना (बीजी) वेळाओ देर्वाधगणिमहाराज आदिनी निश्रामां आगमो पुस्तकारूढ थया होवानुं प्रसिद्ध पण छे, मान्य पण. ज्यारे आ निबन्धकारे तो राजा खारवेलना कहेवाथी तत्कालीन श्रमणोओ आगमो पुस्तकारूढ कर्या होवानो इतिहास ठपकारी दीधो छे! अने आवी तो केटलीये विचित्र वातो आमां आलेखवामां आवी छे! भाषाशास्त्रनी दृष्टिओ जोवामां आवे तो अभ्यासी जनने तत्काळ ख्याल आवशे के आ तो साव अत्यारनी भाषा छे! आर्ष भाषानो पडछायो पण आमां नथी!

डों. मधुसूदन ढांकी साथेनी चर्चा दरम्यान तेमणे कह्युं के आ लेखने पहेलां तो बहु महत्त्व अपायुं, पण पछी पुण्यविजयजी महाराजे कह्युं के 'आ तो बनावटी रचना छे.' अने श्रीजिनविजयजीओ पण कह्युं के 'आ बहु पाछळनी रचना छे.' डों. ढांकी तो तेना समग्रलक्षी अभ्यासना तारणरूपे स्पष्ट कहे छे के ''आ वीसमी सदीनी रचना छे अने ते सर्वप्रथम जामनगरथी प्रकाशित थई हती, तेथी ते त्यांना ज कोई गृहस्थ विद्वाननी रचना होय ते वधु सम्भवित जणाय छे.''

अने आपणा कोई मुनिराजे, आवी कोई ज शोधक दृष्टिनी खेवना राख्या विना, आ निबन्धने वास्तविक मानीने तेना आधारे जैन इतिहासनुं बयान करती, समर्थन करती, अने जैनेतर इतिहासनुं खण्डन करती अेक मोटी चोपडी लखी नाखी छे, अने प्रकाशित करीने जैन धर्मनी मोटी सेवा कर्यानो परितोष पण अनुभव्यो छे.

आवुं जोइओ त्यारे शोधक दृष्टि अने विवेकशील दृष्टि केटली अगत्यनी छे ते अवश्य समजाई जाय छे. आवी दृष्टिनी गेरहाजरीमां इतिहासने, परम्पराने, वास्तविकताने तेमज धर्म-सम्प्रदायने केटलो अन्याय करी बेसाय छे, अने केटली हानि पण पहोंचाडाय छे, तेनो अंदाज पण आवी शके छे. आडेधड लखातां पुस्तक कांई इतिहास बनी शके नहि.

आपणामां वधु ने वधु शोध-दृष्टिनो विकास थाय, ओटलुं ज आ बधुं लखवा पाछळनुं अभिप्रेत छे.

- शी.

अनुक्रमणिका

श्रीमुनिदेवसूरि रचित		
<u> </u>	-सुजसचन्द्रविजयौ १	१
एक फूटकळ पत्र–अन्तर्गत शब्दयादी	क्रान्तिभाई बी. शाह २८	4
जैन श्रावकाचार में पन्द्रह कर्मादान : एक समीक्षा डॉ. कौमुख	दी सुनील बलदोटा ३५	9
सुश्री कौमुदी बलदोटा का शोधपत्र-		
जैन श्रावकाचार में पन्द्रह कर्मादान : एक समीक्षा इस पर कुछ विचार मुनि व	कल्याणकीर्तिविजय ५०	5
मध्यकालीन गुजराती साहित्य : प्रतीक्षा, पडकार अने सम्प्राप्ति	कान्तिभाई बी. शाह ५६	14
प्राचीन जैन साहित्यमें आयुर्वेद तथा भगवान् महावीर का गर्भापहरण डा	ı. जगदीशचन्द्र जैन ६६	Ę
भगवान् महावीर का गर्भापहरण:	4	
एक वास्तविक घटना र्	वेजयशीलचन्द्रसूरि ७९	र
विहंगावलोकन	उपा. भुवनचन्द्र ८ः	₹
Perculiarities of Jain Mahārāṣṭrī Literatur	re	
Γ	Dr. Nalini Joshi	٩
माहिती:		
नवां प्रकाशनो	९८	4

आवरणचित्र-परिचय

आ चित्र सने १८२०नुं, मेवाड शैलीनुं अने उदयपुरमां आलेखायेलुं छे. हालमां ते लंडननी रोयल एशियाटिक लायब्रेरीमां विद्यमान छे. आ चित्रमां आठ विभाग छे, तेमां जुदा जुदा धर्म-सम्प्रदायोना साधुओ दर्शाववामां आव्या छे. ते आठनो परिचय आ प्रमाणे आपवामां आव्यो छे: १. कानफटा योगी, २. दरवेश, ३. जैन साधु, (मूर्तिपूजक-श्वेताम्बर), ४. जैन साधु (स्थानकमार्गी ?), ५. मुस्लिम फकीर, ६. जैन साधु (दिगम्बर), ७. गोसाई, ८. जैन साध्वी (स्थानकवासी).

आ चित्रनी तसवीर, मुम्बईथी प्रगट थता, कलाविषयक सामयिक 'Marg'ना JAMES TOD'S RAJASTHAN नामे ग्रन्थमां प्रकाशित थई छे. ते ग्रन्थना प्रकाशको, सम्पादको तथा प्रकाशन-संस्थाना ऋणस्वीकार साथे आ तसवीर अत्रे, मात्र ज्ञान-वृद्धिने अर्थे प्रकाशित करवामां आवेल छे. जैन धर्म-सम्बद्ध वस्तु होई, 'अनुसन्धान' ना वाचकोने, आवी रीते-अन्यत्र प्रकाशित थती सामग्री विषे जाण थाय तो नवी नवी वातोनी जाणकारीमां वृद्धि ज थशे.

आ चित्रमां, सम्भवतः कर्नल टोडे ज, दरेक विभागना मथाळे अंग्रेजीमां, ते ते चित्रनी ओळख आपता शब्दो लख्या छे. दा.त. 1. Kanfata yogi. 2. Dervesh. 3. yati..... Jatty. 4. Dhundhiya. 5. बराबर उकलतुं नथी. 6. Digambara. 7. Gosain. 8. Dhundhiani.

आपणी निसंबत चित्रमां आलेखेल जैन साधु-साध्वी साथे छे. आ चित्रनो परिचय आपतां ते ग्रन्थना पृ. २४ पर एक महत्त्वनी वात नोंधेल छे, ते आ प्रमाणे : A Predominance of Jain figures in this Picture may perhaps be attributable to the influance of Tod's learned Jain assistant and guru Yati Gyanchandra, on whom he relied greatly. अर्थात् ज्ञानचन्द्र नामना जैन यतिने कर्नल टोड पोताना विद्वान गुरुलेखे मानतो हतो.

(चित्र तथा माहितीनुं सौजन्य: Royal Asiatic Society, London, Marg Publications, Mumbai)

श्रीमुनिदेवसूचि विचत श्रीअभयाभ्युदयमहाकाव्य

सं. मुनिसुयशचन्द्र-सुजसचन्द्रविजयौ

अभयकुमार-जैन आगिमक साहित्यनुं बहु ज प्रसिद्ध पात्र छे. तेमना जीवनना प्रसंगोनो उल्लेख के ते संकळायेल होय तेवा प्रसंगो अनुयोगद्वारसूत्र, आवश्यकसूत्र, दशवैकालिकसूत्र, निशीथसूत्र, सूत्रकृतांगसूत्र जेवां आगमसूत्रोमां के तेनी चूर्णि अने वृत्तिमां जोवा मळे छे.

ते सिवाय-महावीरचरित्र, उपदेशप्रासाद जेवा अनेक संस्कृत के प्राकृतभाषाबद्ध ग्रन्थोमां, तथा श्रेणिकरास, श्रेणिक-अभयरास, भरतेश्वर-बाहुबलीरास वगेरे अनेक कृतिओमां अभयकुमारना जीवनना प्रसंगो नोंधायेल छे.

शुभशीलगणिओ रचेल 'भरतेश्वर-बाहुबलीवृत्ति'मां पण अभयकुमारनुं जीवन गद्यमां निबद्ध थयुं छे. ते ज रीते प्रस्तुत कृति पण कृष्णिषिगच्छना कृष्णमुनिना शिष्य आचार्य जयसिंहसूरिजीओ वि.सं. ९१५मां रचेल 'धर्मोपदेशमाळा' नामनी ९८ श्लोक प्रमाण रचनानी टीकामां स्थान पामी छे.

अभयकुमारना जीवन उपर लखायेल कृतिओ :- तेमना जीवन उपर स्वतन्त्र रीते प्राकृतभाषामां कोई रचना थई होय तेवुं जाणवा मळ्युं नथी. संस्कृत-गुजराती भाषानी रचनाओ नीचे मुजब छे. संस्कृत कृतिओ :-

- (१) अभयकुमारचिरत्र सर्ग १२ श्लोक ९०३६ प्रमाणनी कृति चन्द्रगच्छना आचार्य श्रीजिनेश्वरसूरिजीना शिष्य चन्द्रतिलक उपा. द्वारा वि.सं. १३१२मां रचाई छे ते सं. २०४५मां हर्षपुष्पामृतग्रन्थमाळामांथी छपायेल छे.
- (२) अभयकुमारचित्र सहजकीर्त (दिगं०?) कृत आ रचनानी विशेष नोंध नथी. आ ग्रन्थ पहेला माणेकचंद हीराचंद भण्डार, चोपाटीमां हतो. हाल ते भण्डार त्यां नथी.
- (३) अभयकुमारचरित्र अज्ञातकर्तृक. आ कृतिनी नोंध जिनरत्नकोशमां छे.

(४) अभयशतक - आ कृति सुरत-जैनानन्द पुस्तकालयमां होवानी नोंध मळे छे. ते अभयकुमारना जीवन उपर छे के केम ते पण प्रश्न छे ? अप्रगट जणाय छे.

गुर्जरकृतिओ:-

- (१) कवि देपाल कृत श्रेणिक अभयकुमाररास (र.सं. १५२६)
- (२) पद्मराज (?) अभयकुमार चरित्र चौपाई (र.सं. १६५०)
- (३) कवि ऋषभदास कृत अभयरास (र.सं. १६८७)
- (४) जिनहर्ष उपा. (खर.) कृत अभयरास (र.सं. १७५८)
- (५) कीर्तिसुन्दर कृत अभयकुमारादि पंचसाधु रास (र.सं. १७५९)
- (६) लक्ष्मीविनय (खर.) कृत अभयरास (र.सं. १७६१)

'अभयाभ्युदयमहाकाव्य' नामक प्रस्तुत कृतिने कर्ताए काव्य तरीके गणावी होई तेने स्वतन्त्र कृतिलेखे स्वीकारी शकाय.

अभ्युदयाङ्ककाव्यो : अभ्युदय ओटले उन्नति. शुं नायकना जीवनना अन्य प्रसंगोथी लई छेक तेनी सामाजिक के आत्मिक उन्नतिनी नोंध दर्शावती कृति माटे आ शब्द प्रयोजायो हशे ? के पछी कोई अन्य कारणथी आ शब्द प्रयोजायो छे ते विचारवुं जोईओ.

प्रस्तुत काव्यमां पण अभयकुमारना शैशवथी प्रारंभीने '०मध्यास्त मध्यमिवमानमनुत्तरेषु' पदथी कविओ तेमनी आत्मिक उन्नति दर्शावीने कृति पूर्ण करी छे.

अहीं प्रसंगगत केटलांक अभ्युदयाङ्क काव्योनी टूंक नोंध मूकीओ छीओ-

क्रम	कृतिनाम	कर्ता	र.सं./काळ	कृतिविषय
~	यादवाभ्युदय (नाटक)	कवि रामचन्द्र	वि. १२मी सदी	कंस-जरासन्धना वध पछी कृष्ण राज्याभिषेक
જં	राघवाभ्युदय (नाटक)	2	:	सीतास्वयंवरघटना
'n	भरतेश्वराभ्युदय	आशाधर (दिगं.)	वि.सं.१२३५- १२९६ वच्चे	भरत राजाना चरित्रनुं वर्णन
ૐ	धर्माभ्युदय	उदयप्रभ	वि.सं. १२७७- १२९० वच्चे	वस्तुपाले काढेल संघयात्रा वगेरेथी थयेल धर्मना अभ्युदयनुं वर्णन
<i>š</i>	धर्मशर्माभ्युदय	हस्श्रन्द्र (दिगं.)	वि.सं. १२५७- १२८७ वच्चे	पंदरमा तीर्थंकर धर्मनाथभगवानना जीवननुं वर्णन
wʻ	धर्माभ्युदय (अेकांकी नाटक)	मेघप्रभाचार्य	वि.सं. १२७३ पहेलां	दशार्णभद्रराजिषनी जीवनघटना
<i>ં</i>	रायमह्नाभ्युदय	पद्मसुन्दरगणि	वि.सं. १६२६- १६३९ वच्चे	अकबरना दरबारी शेठ रायमह्न चौधरी (दिगम्बर)नी विनंतिथी रचायेल २४ जिन चरित्र

क्रम	कृतिनाम	करा	र.सं./काळ	कृतिविषय
?	पार्शाभ्युदय	जिनसेनाचार्य (दिगं.)		पार्क्षनाथ भगवानने थयेल उपसर्गनुं वर्णन- मेघदूतनी समस्यापूर्ति
٥ż	देवानन्दाभ्युदय	मेघविजयजी उपा. (खर.)	वि.सं. १७२७	विजय देवसूरिजी (तपा.) म. नुं जीवन शिशुपालवधपादपूर्ति
%.	खीमसीसौभाग्याभ्युदय	रत्नकुशल (तपा.)	वि.सं. १६५०	मंत्री क्षेमराजना पुण्यकार्यनुं वर्णन
% **	पुण्यानन्दाभ्युदय	पुण्यानन्दसूरि (?)	(?)	अनेक महापुरुषोनुं जीवन
%.	विजयानन्दाभ्युदयकाव्य		२०मी सदी	आत्मारामजी म.मुं जीवनचरित्र
% %	नेम्यभ्युदय	उदयसूरिजी म.	२० मी सदी	पू. शासनसम्राट् नेमिसूरिजी म.नुं जीवन
				अपूर्णकृति

खीमसीसीभाग्याभ्युदय' काव्यनी कोबा संग्रहनी प्रतिनी नकल अमे करेल छे जे वहेली तके पूर्ण करवानी भावना छे. ग्रन्थना सर्ग १ ना श्लोक १ थी ५८ (पत्र १ थी ५) न होई अन्य हस्तप्रतनी आवश्यकता छे.

^{&#}x27;पुण्यानन्दाश्युदय' काव्यनुं प्रेसमेटर प्.आ.म.श्री मुनिचन्द्रसूरिजी म. साहेबे तैयार करेल छे. 'n

डिसेम्बर २००८ ५

अभयाभ्युदय: महाकाव्य के सकलकथा - काव्यसाहित्यना भेदादिनी वात हेमचन्द्राचार्य महाराजे 'काव्यानुशासन' ग्रन्थमां जणावी छे. ते संपूर्ण वात न करता मुख्य वात ज करीओ तो-

महाकाव्य - एक नायकने के तेना कुळने सामे राखी छन्दिवशेषथी रचायेल, सर्गबद्ध, संस्कृतादिभाषानिबद्ध, किवसमयनुं पालन करता शब्द-वैचित्र्यादिलक्षणयुक्त जे दीर्घ रचना ते महाकाव्य, जेवा के रघुवंशमहाकाव्य, बुद्धचरित्रादि.

सकलकथा – महाकाव्यनी जेम नायकना पूर्णजीवननुं मात्र वर्णन होय. जेवा के समरादित्यचरित्र, वस्तुपालचरित्रादि.

डो. गुलाबचन्द्र चौधरी जैन साहित्यनो बृहद् इतिहास (भा.६ पृष्ठ २३)मां जणावे छे के 'जैनोना अधिकांश चरित्रकाव्यो आ प्रकारमां (सकलकथामां) समावेश पामे छे.'

छतां कर्ताओं काव्यना दरेक सर्गना अन्ते ''इति अभयाभ्युदयनाम्नि महाकाव्ये'' ए शब्दो मूक्या छे. वळी मात्र कथा तरफ लक्ष न आपता काव्यने सर्गबद्धता, छन्दोवैविध्य, ऋतुवर्णनादि केटलाक गुणो पण आप्या छे. तेथी आ कृतिनो समावेश उपरोक्त बे पैकी कया प्रकारमां थई शके ते निर्णय विद्वानो ज करी शके.

अभयाभ्युदय: अवलोकन - कर्ताओं अभयकुमारना जीवननी घणी घटनाओंने कुल सर्ग ४, श्लोक २०१ नी अंदर गुंथवानो सुन्दर प्रयत्न कर्यों छे. साथे-साथे - अभयकुमारनी माता नन्दाना दोहदनी पिताओं राजा द्वारा करावेल पूर्ति (सर्ग १, श्लोक १८), अभयकुमारना लग्न (१/४०), चेटकराजानी पुत्री सुज्येष्ठाना स्थाने चेल्लणानुं हरण (२/२), कपट करी वेश्या द्वारा अभयने प्रद्योत पासे लाववो (२/४) प्रद्योत पासेथी मळेल ४ वरदाननी समकाळे थयेल मांगणी पूर्ण न थता अभयकुमारनी मुक्ति (२/६५) जेवा केटलाक प्रसंगोनुं संपूर्ण वर्णन न करता श्लोक के श्लोकार्द्धथी अंगुलिनिर्देश करवानुं पण कर्ता भूल्या नथी.

वळी - आ ज कृतिनी समकाळे रचायेल चन्द्रतिलक उपा. कृत अभयकुमारचरित्रमहाकाळ्यमां आवता - सुलसाना ३२ पुत्रनी कथा, कुणिक, मेघकुमार, मेतार्य जेवा (अवांतर) प्रसंगो कर्ताओं न लीधा ते स्वाभाविक छे, परंतु अभयकुमारनी बुद्धिप्रतिभाना द्योतक अन्य कथाप्रसंगो पण कर्ताओं समाविष्ट नथी कर्या ते नोंधवुं जोईओ.

उपरोक्त महाकाव्य साथे प्रस्तुत कृतिने उपर-उपरथी मेळवता प्राप्त थयेल नोंध -

- (१) अभयकुमारचिरत्र महाकाव्यमां अभयकुमारनो जीव माताना गर्भमां आव्यो त्यारे माताए स्वप्नमां ४ दांतवाळो हाथी जोयो (सर्ग १ / श्लो. २८- ३३). प्रस्तुत कृतिमां आ नोंध नथी.
- (२) महाकाव्यमां अन्तः पुरदहननी पोतानी आज्ञानुं पालन थयेलुं जाणी राजा श्रेणिक मूर्छित थाय छे. त्यारे अभय पिताने सत्य हकीकत जणावे छे. (४/५५-५९) प्रस्तुत कृतिमां आ प्रसंग जुदी रीते वर्णव्यो छे. (४/२८-३३)
- (३) महाकाव्यमां अभयकुमार अष्टाहिका महोत्सवपूर्वक पितानी आज्ञा लईने दीक्षा ग्रहण करे छे. (१२/२१-२४) प्रस्तुतकृतिमां पिता साथे थयेल करार(प्रतिज्ञा)नुं खण्डन थता अभय स्वयं अनुमितनी अपेक्षा वगर दीक्षा स्वीकारे छे (४/३१-३४). चन्द्रतिलक उपा. आवश्यक चूर्णिकारने अनुसर्या छे, ज्यारे शुभशीलगणि प्रस्तुतकृतिकारनी वातमां सहमत छे.
- (४) अहीं, कर्ताओं करेल शियाळानी ऋतुनुं वर्णन (३/१५-१८), रात्रि-चन्द्रोदयनुं वर्णन (३/२५, १/१-४), सूर्यास्तवर्णन (३/२४), राजाने उठाडे छे ते प्रसंगे सूर्योदयनुं वर्णन (४/१४-१८). वगेरे, महाकाळ्यनां तेवां वर्णनो करतां जुदां अने रसाळ छे.
- (५) कर्ताओ प्रस्तुत कृतिमां अनुष्टुप, इन्द्रवंशा, इन्द्रवज्रा, उपजाति, उपेन्द्रवज्रा, पृथ्वी, मन्दाक्रान्ता, रथोद्धता, वंशस्थ, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित, शालिनी, स्नग्धरा वगेरे छन्द प्रयोज्या छे.

धर्मोपदेशमाळा - धर्मदासगणी कृत उपदेशमाळा जेवी ज ९८ श्लोक प्रमाण आ कृति कृष्णिषना शिष्य जयसिंहसूरिजीओ वि.सं. ९१५ पहेला रची हशे. कर्ता-तेमनो समय-अन्यकृतिओ-तेमनी शिष्य परम्परा वगेरेनी विशेष नोंध मळती नथी. प्राय: तेमना शिष्य जयकीर्तिसूरिजीए ११५ प्राकृत गाथामय 'शीलोपदेशमाळा' ग्रन्थ रच्यो छे. 'धर्मोपदेशमाळा' ग्रन्थ उपर समयान्तरे त्रण टीकाग्रन्थो रचाया छे.

- (१) धर्मोपदेशमाळा-विवरण आ ग्रन्थ उपर कर्ताओ पोते ज विवरण प्राकृतभाषामां कर्युं छे. टीकाग्रन्थनुं श्लोकप्रमाण ५७७८ छे. कर्ताओ सं. ९१५ मां भादरवा सुद ५, बुधवार, स्वातिनक्षत्रमां राजा भोजदेवना राज्यमां नागोरिजनालयमां आ विवरण पूर्ण कर्युं छे. प्रस्तुत ग्रन्थनुं सम्पादन सिंघी जैन शिक्षापीठ-भारतीयविद्याभवन-मुंबईमांथी (पुरातत्त्वाचार्य) जिनविजयजीओ वि.सं. २००५मां प्रकाशित कर्युं छे.
- (२) धर्मोपदेशमाळा-विवरण प्रस्तुत विवरण हर्षपुरीयगच्छना हेमचन्द्रसूरिजीना पट्टधर विजयसिंहसूरिजीओ वि.सं. ११९१ मां सिद्धराज जयसिंहना राज्यमां बनाव्युं. तेमणे प्रथम विवरणनी कथाओनो विस्तार कर्यो छे. प्राकृतभाषामां रचायेल वृत्तिनुं श्लोकप्रमाण १४४७१ छे. अप्रकाशित आ ग्रन्थनी ताडपत्रीय पोथी पाटण तथा पूना (भाण्डारकर शोधसंस्थान)मां छे.
- (३) धर्मोपदेशमाळ-वृत्ति बृहद्गच्छमां वादी देवसूरिजीनी परम्परामां मदनचन्द्रसूरिजीना शिष्य मुनिदेवसूरिजीओ संस्कृतभाषामां ६८०० श्लोक प्रमाण वृत्ती रची. वि.सं. १३२२नी आसपास रचायेल प्रस्तुत वृत्तिनुं देवानन्दसूरिजीना शिष्य प्रद्युम्नसूरिजीओ संशोधन कर्युं हतुं. अप्रकाशित आ संपूर्ण कृतिनी ताडपत्रीय पोथी पाटणमां छे. कागळ उपर लखेल प्रति छाणी, लिंबडी, वडोदरा-हंसविजयजी संग्रह, पंजाब संग्रह (?), पाटण, सुरत-जैनानन्द वगेरे ग्रन्थालयोमां होवानुं जिनरत्नकोशकारे नोंध्युं छे. 'अभयाभ्युदय-महाकाव्य' आ टीकाग्रन्थनो ज एक अंश छे.

वृत्तिकार - मुनिदेवसूरिजीना जीवन विषे वधु कोई नोंध उपलब्ध नथी. तेमणे सं. १३२२मां शान्तिनाथ चिरत्र रच्युं. आ चिरत्र तेमणे पूर्णताल्लगच्छना आ. देवचन्द्रसूरिजीओ सं. ११६० मां रचेल १२१०० श्लोक प्रमाणना 'संतिनाहचिरय'ना संक्षेपरूपे बनाव्युं हतुं. अप्रकाशित आ कृतिनी हस्तपोथीओ छाणी, भण्डारकर इन्स्टिट्यूट, लींबडी, जेसलमेर, पाटण वगेरे ग्रन्थालयोमां छे.

तेमणे राजगच्छना आ. प्रद्युम्नसूरिजीओ रचेल 'प्रव्रज्याविधान'नी वृत्तिनी प्रथम प्रत लखी हती. पोरवाल शा. शक्तिकुमारना पुत्र आसाहीना कल्याण माटे तेमनी पत्नी शिवादेवी अने पुत्रो वोसिरि, साढल, सांगो, पुण्यसिंहे बनावेल 'अष्टापद' नामना चैत्यनी तेमना हाथे प्रतिष्ठा थइ. तेमणे ज आचार्यश्रीने 'शान्तिनाथ चरित्र' बनाववानी विनन्ति करी हती. [जैन परं.नो इतिहास भा.२, पृ. ४५८]

प्रस्तुतसम्पादनमां अमे २ हस्तप्रतोनो उपयोग कर्यो छे.

हस्तप्रत (१) धर्मोपदेशमाळा टीकान्तर्गत - आ ताडपत्रीय प्रत पाटण - संघवी पाडाना भण्डारमां छे. प्रस्तुत कृति खण्ड २ ग्रथान्क ८९मां पत्र ४५३ A थी ४७६ B मां लखायेल छे. प्रत अशुद्ध छे. तेने अमे ता॰ एवी संज्ञा आपेल छे.

(२) विविधकथासंग्रह – आ प्रत पाटण-हेमचन्द्राचार्य भंडारनी अन्तर्गत लींबडीना पाडाना भण्डारनी छे. प्रत क्रमांक ४००१ छे. एक ज लेखके आ संपूर्ण प्रत लखी हशे. परंतु तेमां ले.सं. वगेरे नोंध थयेल नथी. कदाच आ कथासंग्रहनी अन्य कथाओ पण मुनिदेवसूरिजीनी रचना होई शके. कारण आ कथासंग्रहना दृष्टान्तो धर्मोपदेशमाळाकारे ते ते श्लोकमां मूक्या छे. आ प्रतनी पत्र संख्या ३३ छे. अक्षर सुवाच्य छे. प्रत शुद्ध छे. ते प्रतने अमे का० अेवी संज्ञा आपेल छे.

कथासंग्रहनी कथाओनी नोंध:

क्रम	कथा नाम	श्लोक	पत्र	धर्मीपदेशमाळ्यमां
		संख्या		आवता ते-ते
				दृष्टान्तनो श्लो. नं.
₹.	वंकचूलकथा (सं.)	१०९	१-५В	१९
₹.	अभयाभ्युदयमहाकाव्य (सं.)	२०१	५B- १४B	५२
₹.	सुभद्राकथा (सं.)	६१	१५A-१६B	१५
٧.	दमदत्तकथा (सं.)	२३	१६B-१८A	२३
ч.	दत्तशंखायनकथा (?) (सं.)	ખ્ય	१८A-२१A	ሪ (?)
Ę .	चन्दनबाळा कथा (सं.)	१२२	२१A-२५A	२६
૭.	ईलापुत्रकथा (सं.)	३६	२५А-२६А	৬
۷.	कूरगडु कथा (सं.)	६८	२६A-२९A	33
٩.	भरतकथा (सं.)	२६	२९A-३०A	· (9
१०.	काष्ट्रमुनिकथा (सं.)	38	३०A-३१A	८४
११.	चातुर्मासिकनियमकथा (प्रा.?)	५७	आ कथा मूळ	मां क्यांय मळी नथी.
			३१B-३३B	

विविधकथासङ्ग्रहान्तर्गतम् ''अभयाभ्युदयमहाकाव्यम्''

अच्चंतपावभीरू, रज्जं न लयंति दिज्जमाणंपि । अभयमहासाला इव, जिणसासणभावियमईया ॥१॥ [आर्या] प्रा प्रे राजगृहे प्रसेन-जिता^९ख्ययाऽभूत्क्षितिमाननेके । महस्विनस्तस्य सुता बभूवु:, श्रीश्रेणिकाद्या मणयो यथाऽब्धे: ॥१॥ [उपजाति] क एषु राज्यार्ह इति क्षितीशः, परीक्षितुं पायसभाजनानि । अन्येद्यरेषामशनाय पङ्कत्या, व्यमोचयत् ते च ततो निविष्टाः ॥२॥ भोक्तुं प्रवृत्तेषु सुतेषु तेषु, विमोचयामास स सारमेयान् । नेशु: कुमारा ध्रुवविद्दिने^र तु, तत्र स्थित: श्रेणिक एक एव ॥३॥ क्षिपन् शुनिभ्य: परभाजनानि, स पायसं स्वं बुभुजे सुखेन । तद्वीक्ष्य दध्यौ नुपतिर्मनीषी, यथा तथाऽप्येष निषेतस्यतेऽरीन् ॥४॥ स्वयं च भोक्ष्यत्ययमात्मराज्यं, राज्यस्य योग्यस्तदयं परे न । ध्यात्वेति तेभ्यः स विभज्य देशान्, ददौ सदौचित्यवतां वरेण्यः ॥५॥ श्राक् श्रेणिको मानवशान्निरीय, बेन्नातटं नाम पुरं जगाम । श्रान्तो विशश्राम स तत्र भद्रा-भिधस्य हट्टे वणिजां वरस्य ॥६॥ स क्रायकैर्भूरिनरैस्तदानीं, विहस्ततां प्राप विणक् ततोऽस्य । बद्धवा पुटीरर्पयता वितेने, साहायकं भूधननन्दनेन ॥७॥ श्रेष्ठी स भूयिष्ठमुपार्ज्य वित्तं, तंस्याऽनुभावेन तमित्युवाच । अद्याऽतिथिस्त्वं भविताऽसि कस्य, पुण्यात्मनः ? पुण्यनिधेऽभिधेहि ॥८॥ युष्माकमेवेति निशम्य तस्मा-दिचन्तयद्भद्र ! इदं हृदन्तः । स्वप्नेऽद्य योऽदर्शि मया सुताया, योग्यो वरः सैव समागतोऽयम् ॥९॥ ध्यात्वेति संवृत्य निजापणं स, निन्ये सहैव स्वगृहं कुमारम् । सगौरवं गौरवभाजनस्य, तस्याऽथ चक्रे सवनाऽस(श)नाद्यै: ॥१०॥ शुभे मुहर्तेऽथ तदीय कन्या-मानन्दकां रूपगुणात् सुनन्दाम् । उदह्य भेजे रमयेव विष्णु-स्तया समं वैषयिकं सुखं सः ॥११॥

प्रसेनजित्तत्र नृप: स्थितं तं, विज्ञातपूर्वी प्रणिधि प्रयोगात् । आह्वाययामास रुजार्दितोऽथ, क्रमेलकस्थै: पुरुषैर्जवेन ॥१२॥ अमन्दमान्द्यं पितरं स तेभ्यः, श्रुत्वा भृशं बाष्पभरप्लुताक्षः । प्रियां वियोगाकुलचेतसं ता-मापुच्छत प्रेमपरैर्वचोभि: ॥१३॥ गोपालका: पाण्डुरकुड्यवन्तो, वयं पुरे राजगृहे सदा स्मः । आह्वानमन्त्रप्रतिमानितीमान्, वर्णान् लिखित्वाऽर्पयति स्म चाऽस्यै ॥१४॥ गत: पूरं राजगृहं ननाम, तमामयग्रस्ततनुं सबाष्प: । तृष्टात्ततो वर्णगुरोरतोऽयं, साम्राज्यदीक्षां च जवादवाप ॥१५॥ गते दिवं तत्र महीमहेन्द्रे, श्रीश्रेणिको भूमिभरं बभार । साहायकं यस्य भूजो व्यधत्त, भूभारखित्रस्य भुजङ्गभर्तुः ॥१६॥ यस्य प्रतापस्तपनो नवीनः, कोऽपि प्रजादःखतमोपहर्ता । द्विड्द्र्यशोराहुमिह स्फुरन्तं, नभस्तले प्रत्युत जग्रसे य: ॥१७॥ आगच्छता तेन यदा विमुक्ता, नन्दा तदा गर्भवती बभूव । गर्भान्भावादभयप्रदाने, तस्यास्ततो दोहद उद्बभ्व ॥१८॥ स पुरितोऽस्या जनकेन भूपं, विज्ञप्य कालेऽथ नुपप्रिया सा । महःसमुहग्लपितप्रदीपं, प्रास्त पूर्वेव र्राव तनूजम् ॥१९॥ यद्दोहदो मातुरमुष्य जज्ञे, गर्भे स्थितोऽस्मिन्नभयप्रदाने । मातामहेनाऽभय इत्यवादि, ततः कुमाराग्रपदः स नाम्ना ॥२०॥ अधीतिवद्यः क्रमतोऽष्टवर्ष-वयाः स केनाऽपि कृतोऽप्यमर्षात् । अतर्ज्यतेति त्वमसीह को न्, नामाऽपि बुध्येत पितुर्न यस्य ॥२१॥ नन्दास्तेनाऽभिदधे पिता मे, भद्रः परः प्राह न ते पिताऽयम् । त्वन्मातरेषोऽथ ययौ विलक्षः , पार्श्वं जनन्या स जगाद तां च ॥२२॥ तात: क्व मे मातरगात्तवाऽथ, भद्र: पिताऽकथ्यत ते पिताऽयम् । न मे स्तेनेत्यदिता जगाद, भृयोऽपि निःश्वस्य सुदीर्घमेषा ॥२३॥ वैदेशिक: कश्चन मां विवाहय, गर्भस्थितेऽथ त्विय कैश्चिदेष: । पंभिः समेतैर्विजने विधाय, मन्त्रं ययौ क्वाऽपि मयाधिरूढः ॥२४॥ गच्छंस्तदा कि किम्बाच स त्वां ?, पृष्टाऽभयेनेति ततः सुनन्दा । तत्पत्रकं दर्शयति स्म सोऽपि, तद्वाचियत्वेत्यवदत् प्रहृष्टः ॥२५॥

डिसेम्बर २००८ ११

पिता स मे राजगृहस्य राजा, तन्यातरन्तर्वह मा स्म खेदम् । आपुच्छ्य भद्रं तत एष चक्रे, संवाहकं तत्र यियासुराशु ॥२६॥ अम्बां गृहीत्वाऽथ ययौ स राज-गृहे पुरे तां च बहिर्विमुच्य । विवेश वेगादभयः सुवेशः, पुरस्य मध्यं स्वयमेक एव ॥२७॥ इतश्च स श्रेणिकभूमिपालः, स्वमन्त्रिणां १० पञ्चशर्ती निरेकाम् । चक्रे चिकीर्षत्यथ तां चतुर्धी - पात्रेण मन्त्रिप्रवरेण पूर्णाम् ॥२८॥ चिक्षेप कूपे विजले नृप: स्वा-मथोर्मिकामेवमघोषयच्च । आदास्यते कण्ठगतो य एतां, करेण मन्मन्त्रिषु धूर्यताऽस्य ॥२९॥ श्रुत्वेति तत्कण्ठगतो विलक्षो, जनो जगादेति स पाणिनेमाम् । ग्रहीष्यते चन्द्रमसं नभ:स्थं, गृह्णाति यः कश्चन भूमिकास्थः ॥३०॥ आगात्तदानीमभयोऽपि कृप-तटे जनं वीक्ष्य जगाद चेति । नाऽऽदीयते किं नन् पाणिनेयं, किं दुष्करं किञ्चिदिहाऽस्ति कार्ये ॥३१॥ विलोक्य लोकस्तमिदं हृदन्त-र्दध्यावयं कोऽप्यतिशायिबृद्धिः । रागो मुखस्याऽवसरे हि वक्ति, स्फूटं नुणां विक्रममन्तरस्थम् ॥३२॥ जनस्तमुचे त्विममां गृहाण, भावी यदि त्वं नुपमन्त्रमुख्यः । तां गोमयस्याऽथ जघान पिण्डे-नाऽऽर्द्रेण मुद्रामभयोऽतिगाढम् ॥३३॥ जाज्वल्यमानैस्तृणपूलकैस्तं, संशोषितं क्षिप्तजले तरन्तम् । स पाणिनाऽऽदाय जगाम धाम, भूमीपतेर्द्धाःस्थनरोपहृत: ॥३४॥ नुपस्तमालिङ्ग्य जगाद वत्स !, कृतस्त्वमागा इह वा पुरेऽसि । प्रणम्य स प्राह समागतोऽस्मि, बेण्णातटाख्यात्रगरादिहाऽद्य ॥३५॥ भद्रास्य ! भद्राभिधयाऽस्ति तत्र, धनी तदीया तनया सुनन्दा । क्षेमं तयोरित्यमुना नृपेण, पृष्टोऽयमस्तीत्यवदत् कुमार: ॥३६॥ भद्रात्मजायाः किमपत्यमस्ति ?, तेनोदितं सुनुरथाऽऽह राजा । किमाकृति: किंगुणसंहतिश्च, स विद्यते ? हृद्यमते ! वदेति ॥३७॥ दृष्ट: स दृष्टे मिय नाथ ! नूनिमदं निशम्याऽथ नृप: स तस्मात् । निन्ये तमालिङ्ग्य सुतं निजाङ्क, हर्षं वहत्रुद्धररोमहर्ष: ॥३८॥ नुपोऽथ गत्वाऽभिमुखं प्रकृष्टा-नन्दां सुनन्दां पुरमुत्पताकम् । प्रवेशयामास चकार चैनं, स्तं प्रधानं सचिवेषु तेषु ॥३९॥

स्वस्ना सुषेणाभिधया नृपस्य, दत्तां स्वकन्यां परिणीय धन्याम् । नृपात्मजोऽयं पतियोगजातं, मातुः प्रमोदं द्विगुणीचकार ॥४०॥ न तज्जयन्तेन हरिर्न शेषो, भद्रेण यन्मध्यमलोकपालः । सुतेन संसाधयति स्म कार्यं, स तेन^{११} दुःसाद्य(ध्य)मपि क्षणेन ॥४१॥ प्रद्योताद्याः कितीन्द्राः कित कित न तदा सन्ति शक्तित्रयाद्या-

स्तेषु श्लाघां बुधेभ्यः कलयति पुरतः १२ श्रेणिकस्त्वेक एषः । पुत्रो मन्त्री च यस्याऽगणनगुणनिधिर्भक्तिशक्तिप्रधानो,

धत्ते राज्यस्य भारं मतिविभवभराक्रान्तभूपालचक्रः ॥४२॥ [स्रग्धरा] दातारं यमुपास्य याचकचमूर्नान्यं वदाऽन्यं गता,

यस्य न्यायविनाकृतो नयनिधे: पुत्रोऽप्यमित्रोपमः १३ । वैरिश्रीजयसङ्गमेन सततं बि[वि]भ्राजमानिस्त्रधा,

वीरश्रेणिशिरोमणिर्विजयते श्रीश्रेणिक: क्ष्मापति: ॥४३॥ [शार्दूल०]

।। इत्यभयाभ्युदयनाम्नि महाकाव्ये प्रथमः सर्गः ।छ॥ ग्र. ६९ अ. १८

> ऐँ नमः [द्वितीयः सर्गः]

इतश्च श्रीविशालाऽस्ति, वैशालीति पुरीवरा ।
तत्र चेटीकृताऽऽराति-र्नृपश्चेटक इत्यभूत् ॥१॥ [अनुष्टुप्]
तत्सुतां चेल्लणाभिख्या-मानीतामपहृत्य सः ।
उषामिवाऽनिरुद्धः श्री-श्रेणिकः परिणीतवान् ॥२॥
भोगांस्तर्स्यां समं भेजे, राजा सोऽथ यथारुचि ।
राज्यभारं समारोप्य, पुत्रे मन्त्रिणि चाऽभये ॥३॥
कपटश्राविकीभूयाऽभयः पण्यस्त्रियैकया ।
धृत्वाऽऽनीतो विशालायां, प्रद्योतस्य निदेशतः ॥४॥
तदा चाऽवन्तिनाथेन, चेतसीति विचिन्तितम् ।
सुता वासवदत्ता मे, याऽस्त्यङ्गारवतीभवा ॥५॥

तया योग्य^{१६}ग्रोरन्ते, शिक्षिताः सकलाः कलाः । गन्धर्ववेद एवैको-ऽवशिष्येत गुरुं विना ॥६॥ ध्यात्वेति सचिवं राजा, पप्रच्छेति बहश्रतम् । को नाम दुहित्भीवी, गुरुगीन्धर्वपाठने ॥७॥ प्रायेण राजपुत्रीणां, प्राप्तानां पतिमन्दिरम् । विना गीतकलां पत्य-र्विनोदे कि भवेत्परम् ? ॥८॥ उवाच सचिव: स्वामिन् !, सम्प्रत्युदयनाभिध: । राजाऽस्ति सर्वगान्धर्व^{१७}-धुरीणानां शिरोमणि: ॥९॥ अद्भुता काऽपि गान्धर्व-कला तस्य निशम्यते । यो बध्नाति वने व्याला-निप गीतेन मोहयन् ॥१०॥ वने बध्नाति स यथा, गीतोपायेन कुम्भिन: । तथा तस्याऽप्युपायोऽस्ति, बन्धेऽत्राऽऽनयनेऽपि च ॥११॥ तन्वन् यन्त्रप्रयोगेण, क्रिया गत्यासनादिका: । कार्यतां कुञ्जरस्तत्र, किलिञ्जैः काननान्तरे ॥१२॥ किलिञ्जकरिमध्यस्थाः, सुभटाः शस्त्रपाणयः । नृपं नियन्त्र्य विश्वस्तं, तमानेष्यन्ति तेऽन्तिके ॥१३॥ तं किलिञ्जगजं तेन, कारितं तद्वनान्तरे । वनेचरा विलोक्याऽथो-दयनाय व्यजिज्ञपन् ॥१४॥ दूरं मुक्त्वा परीवारं, गत्वा तस्याऽन्तिकं नृप: । गीतं गातुं समारेभे, स तिरस्कृततुम्बरः ॥१५॥ यथा यथा जगौ गीतं, मधुरं स तथा तथा । भटा: करटिनं चक्रु-र्मध्यस्था निश्चलाङ्गकम् ॥१६॥ तं गीतमोहितं मत्वो-दयनोऽपि शनै: शनै: । उपेत्योत्प्लुत्य चाऽरोहत्, कुञ्जरं नरकुञ्जर: ॥१७॥ योधैर्निरीय तन्मध्याद्, बध्यमानोऽप्ययं तदा । एकोऽशस्त्रश्च नाऽकार्षी-च्छेक: किमपि पौरुषम् ॥१८॥ तमानीतं पुर: प्रद्यो-तोऽपि भूमिपतिर्जगौ । शिक्षय त्वं मम सुतां, भद्र ! गीतकलां निजाम् ॥१९॥

कर्तव्यं समयायात-मिदमप्यधुना मया । ध्यात्वेत्युदयनो मेने, कालक्षेपाय तद्वचः ॥२०॥ जगादोज्जयिनीशस्त-मेकाक्षी साऽस्ति मे सुता । तत्र वीक्ष्या त्वया येन, त्वां विलोक्य त्रपिष्यते ॥२१॥ नुपस्तामप्युवाचेति, वत्से ! गीतकलागुरु: । अपश्यन्त्या त्वया पर्यु-पास्यः कुष्ठी यतोऽस्ति सः ॥२२॥ अथो जवनिकान्त:स्था-मिमामुदयन: सदा । शिक्षयामास गान्धर्व-कलामन्तः पुरस्थितः ॥२३॥ तया प्रद्योतभूभर्तुः, शिक्षया तौ परस्परम् । नाऽपश्यतां यतश्छेको-ऽप्यतिच्छेकेन वञ्च्यते ॥२४॥ तन्निर्ध्यानधनाऽन्येद्यः, सा कन्या शून्यमानसा । अधीते स्माऽन्यथा सर्वाः, मनोधीनाः क्रिया यतः ॥२५॥ काणेति तर्जिता तेन, कुपितेन जगाद सा । कुष्ठिनं स्वं न जानासि ? किं मां काणेति भाषसे ? ॥२६॥ अचिन्ति वत्सराजेन, कुष्ठभाग् यादृगस्म्यहम् एकाक्षी तादृगेषाऽपि, स्यात्ततः किं न वीक्ष्यते ? ॥२७॥ अपसार्य ततः काण्ड-पटं मेघविनिर्गताम् । लेखामिवैन्दवीमेष, कन्यकां पश्यति स्म ताम् ॥२८॥ तं च वासवदत्तापि, साक्षादिव पतिं रते: । प्रफुल्लाक्षी प्रमोदेन, सुभगं तमवैक्षत ॥२९॥ कन्यां नृपो नृपं कन्या-ऽप्यवलोक्य स्मितं तदा । मिथोऽनुरागसाङ्गत्य-सूचकं तेनतुर्मुदा ॥३०॥ युक्तं परिदधे ताभ्यां, रोमाञ्चकवचं तदा । यत: सुरतसङ्ग्राम-समयोऽभ्यर्ण एव हि ॥३१॥ प्रद्योततनया बाढं, कामरागवशंवदा । द्तीभूतात्मनैवेति, वत्सराजमवोचत ॥३२॥ इयत्कालं कलावन्तं, त्वामवीक्ष्याऽस्मि वश्चिता । पद्मिनीव निशीथिन्यां, नियत्या पितृशिक्षया ॥३३॥

कलागुरो ! कला: सर्वा-स्त्वया सङ्क्रामिता मिय । इयमेवाऽस्तु तद्दक्ष !, दक्ष(क्षि)णाऽऽत्मसमर्पणम् ॥३४॥ इति तद्वाक्सुधापान-सङ्क्रान्तस्वादुतागुणम् । तदनूदयनः प्राह, सप्रमोदमिदं वचः ॥३५॥ छदाना या पराभूति:, पुराऽभून्मम वाणिनि ! । जज्ञे सैव परा भूति-स्त्वल्लाभेनाऽधुना पुन: ॥३६॥ तत्रैव तस्थुषोर्योग-स्तद्भवत्वावयो: प्रिये ! । हृत्वा त्वं समये यास्या-म्यहं निजपुरं पुन: ॥३७॥ इत्थं तयो: स्वदौत्येन, योग: काञ्चनमालया । धात्र्या वासवदत्ताया, ज्ञायते स्म परेण न ॥३८॥ वसन्तकेन मिण्ठेन, वत्सराजस्य मैत्र्यभूत् । करी नलगिरि: स्वैर-मन्यदोपाद्रवत्पुरम् ॥३९॥ विहस्तेन नुपेणाऽथ, पृष्टः श्रेणिकनन्दनः । प्राहेत्यमुं वशीकर्तुं, गायतूदयनो नृप: ॥४०॥ प्रद्योतोक्तः स्तायको, जवन्यन्तरितोऽथ सः । गीतं गायन्नलगिरिं, वशीचक्रे क्षणादिप ॥४१॥ वरं ददौ नृपस्तुष्टो, न्यासीचक्रेऽभयस्तु तम् । उद्यानं प्रति चाऽन्येद्य्-श्चचालोज्जयिनीपति: ॥४२॥ तदेति वत्सराजस्य, मन्त्री यौगन्धरायण: । प्रद्योतराजमालोक्य, राजमार्गस्थितोऽवदत् ॥४३॥ यदि तां चैव तां चैव, तां चैवाऽऽयतलोचनाम् । न हरामि नुपस्याऽर्थे, नाऽहं यौगन्धरायण: ॥४४॥ भ्रुकटीभीषणं प्रेक्ष्य, नुपस्याऽऽस्यं स धीस: । स्वस्योदयनगृह्यत्व-मपाकर्त् तदात्वधी: ॥४५॥ उद्ध्वं एव स सन्त्यक्त-संव्यानो विकृताकृति: । अम्त्रयत्रपोऽप्येनं, भूताविष्टममन्यत ॥४६॥ उद्यानस्थो नरपति-र्द्रष्टुं गान्धर्वकौशलम् । कौतुकी वत्सराजेन, युतामाजृहवत्सुताम् ॥४७॥

वत्सराजो जगौ राज-पुत्रीमिति तदा प्रिये ! । गच्छाव: साम्प्रतं भद्र-वतीमारुह्य हस्तिनीम् ॥४८॥ नुपो वसन्तकेनाऽथा-ऽऽनाययत्तां करेणुकाम् । गन्तुं सधात्रिका राज-पुत्री सज्जा बभूव च ॥४९॥ दूष्यायां नह्यमानाया-मिभी सा रसितं व्यधात् । एको नैमित्तिकस्तच्च, श्रुत्वा रसितमब्रवीत् ॥५०॥ कक्षायां बध्यमानायां, यथा रसित हस्तिनी । योजनानां शतं गत्वा, तथा प्राणान् प्रहास्यति ॥५१॥ बबन्ध वत्सराजस्य, वचसा स वसन्तकः । इभ्यामूत्रस्य घटिका-श्चतस्रः पार्श्वयोर्द्वयोः ॥५२॥ मिण्ठो राजसुता वत्स-राजो घोषवतीकर: । धात्री काञ्चनमाला चाऽऽरुरुहुस्तां द्विपीं ततः १८ ॥५३॥ यौगन्धरायणो याहि, याहीति करसञ्जया । अनोदयन्नपं सोऽपि, जुघोषेति व्रजंत(स्त)दा ॥५४॥ वत्सराजो वेगवती-घोषवत्यौ वसन्तक: । वासवदत्ता काञ्चन-माला सार्थ: प्रयात्यसौ ॥५५॥ गतेषु तेषु नृपतिः, क्रुद्धो नलगिरिं गजम् । सन्नाह्य ताननुप्रैषीद्, युतं यौधैर्निषादिभि: ॥५६॥ उल्लङ्घ्य पञ्चविंशत्या, योजनै: प्रमितां भुवम् । वत्सराजस्तमायातं, पृष्ठेऽपश्यन् महागजम् ॥५७॥ स्फोटयामासिवानेकां, ततो मूत्रघटीमयम् । प्रेरयामास च पुन-र्जवेनैतां करेणुकाम् ॥५८॥ जिघ्नन् करेणुकाम्त्रं, करी सोऽपि स्थित: क्षणम् । पृष्ठे सञ्चारितश्चेषां, कष्टेन महता तत: ॥५९॥ अध्विन स्फोटयन्नन्या. अपि तावित तावित । इभीमूत्रस्य घटिका, गतिं सा करिणोऽरुणत् ॥६०॥ सयोजनशतप्रान्ते, कौशाम्बीमविशत् पुरीम् । व्यपद्यत परिश्रान्ता, साऽपि वेगवती द्विपी ॥६१॥

सम्मुख्यं योद्धमायान्तीं, दृष्ट्वोदयनवाहिनीम् । तं गजं वालयित्वाऽगु-रवन्तीं ते निषादिन: ॥६२॥ ततः प्रयाणकाकाङ्क्षी, प्रद्योतः कुलमन्त्रिभिः । युक्तिपूर्विमिति प्रोचे, स्वस्वामिहितकाङ्किक्षभि: ॥६३॥ वराय यस्मै कस्मैचिद्, दीयते कन्यिका ध्रुवम् । तत्समो वत्सराजेन, भावी कोऽस्थी वर: पर: ? ॥६४॥ पूर्यतां यात्रया तत्ते, मान्यतां स वरो वर: । स एव तव कन्याया, यत्कौमारहरोऽजनि ॥६५॥ तैरेवं बोधितो वत्स-राजाय प्रजिघाय स: । राजा जामातृभावार्ह-मनर्घं वर्सुंसञ्चयम् ॥६६॥ वरेण तेन तैरेन्यै-रिप दत्तीस्त्रिभर्नपात् । स्वं क्रमान्मोचयाञ्चके. मतियोगादथाऽभय: ॥६७॥ तम्वाचाऽभयो राजं-स्त्वया निन्ये छलादहम् । दिवा रटन्तं पूर्मध्ये, त्वां तु नेष्याम्यसावहम् ॥६८॥ ततो राजकुमारोऽगा-न्निजं राजगृहं पुरम् । कथमप्यवतस्थे च, कञ्चित् कालं महामित: ॥६९॥ सुरूपेगणिकायुग्म-युतो वाणिजवेषभृत् । अवन्त्यां सोऽगमद् मार्गा-सत्रं च गृहमग्रहीत् ॥७०॥ हस्तिस्थितो गवाक्षस्थे, प्रद्योत: प्रेक्षते स्म ते । प्रद्योतमेते अपि तं, सविलासमपश्यताम् ॥७१॥ अनुरक्तो नृपः प्रैषी-दन्तिके दृतिकां तयो: । कुपिताभ्यामियं ताभ्यां, वधूभ्यामपहस्तिता ॥७२॥ अनुनेतुमिमे दूती, द्वितीयेऽप्यह्नि साऽगमत् । ताभ्यां तत्र दिने स्वल्प-कोपाभ्यां मानिता मनाक् ॥७३॥ अनिर्विण्णा तृतीयेऽपि, दिने साऽर्थयते स्म ते । ताभ्यामुचे सदाचारो, भ्राता नौ बिभिय(व)स्तत: ॥७४॥ सप्तमेऽह्नि समायाते, यातेऽमुष्मिंस्ततो बहि: । इहाऽभ्येत् नृपो युक्तं, ततः सङ्गो भविष्यति ॥७५॥

अभयोऽथ निजं कञ्चित्, प्रद्योतसदृशं नरम् । उन्मत्तमकरोत्तस्य, प्रद्योत इति नाम च ॥७६॥ ग्रहिलोऽयं मम भ्राता, पुरे भ्राम्यति सर्वत: । सज्जीकार्यो मयाऽयं त-दित्यवादीज्जनेऽभय: ॥७७॥ नयामि वैद्यगेहेऽम्-मितिच्छद्मपरोऽन्वहम् । रटन्तं मञ्चकारूढं, स तं निन्येऽभयो बहि: ॥७८॥ उच्चै: स्वरं स चोन्मत्तो, नीयमानश्चतुष्पथे । प्रद्योतं मां हरत्येष, इत्यदश्रमुखोऽरटत् ॥७९॥ ययौ नुपोऽपि तत्रैकः, प्रच्छत्रं सप्तमेऽहिन । बबन्धे चाऽभयभटैः, कामान्धः सिन्धुरो यथा ॥८०॥ वैद्यगेहे नयाम्येनं, जल्पतेत्यभयेन स: । जहे पुरस्य मध्येन, सपर्यङ्को दिवा रटन ॥८१॥ प्रतिक्रोशं पुरो मुक्तै-र्वाजिभि: करभैरथै: । नृपं राजगृहं निन्ये-ऽभयस्तं भयवर्जित: ॥८२॥ अभय: श्रेणिकस्याऽग्रे, निनायोज्जयिनीपतिम् । अधावत्तं प्रति कृद्धः, कृष्ट्वाऽसि श्रेणिको नुपः ॥८३॥ सम्बोध्य मगधाधीश-मभयो नीतिवित्ततः । प्रद्योतं प्रेषयामास, सत्कृत्य स्वपुरं प्रति ॥८४॥ सधर्मस्वामिपादाना-मन्तिके कश्चिदन्यदा । प्रव्रज्यामाददे काष्ठ-भारिको भवभीरुक: ॥८५॥ विहरन्तं पुरे पौरा:, पूर्वावस्थाऽनुवादत: । उपाहसन्नमुं सोऽपि, विहारार्थे जगौ गुरून् ॥८६॥ अन्यत्राऽथ विहाराय, पृष्टो गणभृताऽभय: । पुच्छंश्चाऽयं विहारस्य, हेतुं तं ज्ञापितोऽमुना ॥८७॥ स प्रणम्येत्ययाचिष्ट, दिनमेकं प्रतीक्ष्यताम् । तद्दर्ध्वं भगवत्पादै-यंथारुचि विधीयताम् ॥८८॥ भाण्डागारात्ततः कृष्ट्वा, रत्नकोटित्रयीमयम् । दास्याम्येतामेत लोकाः. पटहेनेत्यघोषयत् ॥८९॥

तत्राऽऽययुर्जनाः सर्वे-ऽप्यभयेनेति भाषिताः । गृह्णात्विमाः स यो विह्नं, जलं नारीं च वर्जयेत् ॥९०॥ लोकोत्तरमिदं लोके, कर्तुं को नु प्रभुः प्रभो !? । तेषु विज्ञपयत्स्वेवं, भूयोऽप्यभिदधेऽभय: ॥९१॥ यदि युष्मास् नेदुक्षः, कोऽपि रत्नान्यमृन्यहो ! । काष्ठभारिकसाधोस्तत्, सन्तु तत्त्रयवर्णिनः ॥९२॥ सत्यं पात्रमयं दान-स्येदशस्य महामुनि: । धिगस्मान् हसितो यै: स, इत्यूचुरभयं जना: ॥९३॥ म्नेरस्योपहासाद्यं, तन्न कार्यमतः परम् । अभयादिति शिक्षां ते, स्वीकृत्याऽथ जना ययु: ॥९४॥ बुद्ध्या स्वर्गिगुरुस्पद्धी-त्यभय: पितृभक्तिभाक् । निरीहो धर्ममर्मज्ञो, राज्यं पितुरपालयत् ॥९५॥ श्राद्धधर्मे राजचक्रे. चैष द्वादशधा स्थिते । प्रमादं दरत: कृत्वा, जजागार दिवानिशम् ॥९६॥ अमन्देनाऽपि सा तेन, मतिब्राह्मी सुसङ्गता । कस्य चित्रीयते नैव. श्रेय:सिद्धि वितन्वती ॥९७॥ यथाऽखिलं बाह्यमरातिवृन्दं, मितप्रपञ्चेन स तेन तेन । तथा जिगायाऽऽन्तरमप्यखित्रो, जितेन्द्रियत्वेन सुदुष्करेण ॥९८॥ [उपेन्द्रवज्रा]

॥ इत्यभयाभ्युदयनाम्नि महाकाव्ये द्वितीयसर्गः ।छ॥

एँ नमः [तृतीयः सर्गः]

चैत्येऽन्यदा गुणशिले त्रिशलातनूजः, स्वामी समागमदमर्त्यिनिषेवितांहिः । तत्राऽऽशु निर्मितमथ त्रिदशैर्यथार्हं, तद्देशनासदनमुद्यदमन्दधाम ॥१॥ [वसन्ततिलका] तत्राऽभयोऽथ मुनिपर्षदि नव्यमेकं,
दृष्ट्वा मुनि विनयवामनमूर्त्तरुच्वै: ।
नत्वा जिनं विरचिताञ्जलिरित्युवाच,
को नाम धाम तपसां मुनिरेष नाथ !? ॥२॥

प्राह प्रभु: प्रवरमस्ति पुरं प्रतीच्यां, विश्वप्रसिद्धमरुमण्डलमौलिमौलि: ।

हिङ्ग्वादिपण्यनिवहस्य महानिधानं,

स्थानं श्रियामभय ! वीतभयाभिधानम् ॥३॥

तस्य क्षमाधिपतिरेष उदायनोऽस्म-

द्धर्मोपदेशमधिगम्य भवाद्विरक्तः ।

दध्यौ ददामि यदि राज्यमभीचयेऽहं,

पुत्राय तन्नरकदुःखमयं लभेत ॥४॥

एवं कृपामयमनास्तनुजेऽथ केशि-

सञ्जं विधाय नृपमेष सुतं स्वजामे: ।

आदत्त सर्वविरति हतकर्मराशे-,

र्भावी भवक्षय इहैव जनुष्यमुष्य ॥५॥

बद्धाञ्जलिः पुनरपि प्रयतः सुनन्दा-

सुनुर्व्याजिजपदिदं शमिनामधीशम् ।

राजिंदत्रसमये भविताऽन्तिमः को ?।

भाव्येष एव जगदे जगदेकभर्त्रा ॥६॥

नत्वाऽथ नाथमभय: पुरमेत्य भूय:,

संसारनाटकनटत्वभयोपगूढः ।

इत्थं जगाद मगधाधिपति विवेकी,

भालस्थलप्रणयिपाणिपयोजकोश: ॥७॥

श्रीवर्द्धमानजिननायकपोतवाहं,

चारित्रपोतमधिरुह्य भवाम्बुराशे: ।

पारं यियासुरहमस्मि ददत्यनुज्ञां, सद्य: प्रसद्य यदि तातपदा इदानीम् ॥८॥ स्मित्वाऽभ्यधत्त नुपतिः सचिवं तमेव(वं) वत्स ! त्वयेत्यभिदधे ननु युक्तमेव । आदत्स्व किन्तु पुरतो नुपतित्वदीक्षां, दीक्षां गृहीतुमधुना समयो ममाऽयम् ॥९॥ स श्रेणिकं पुनरुवाच वहामि देव ! शेषामिवाऽहमनिशं शिरसा त्वदाज्ञाम् । स्वामी त् वीतभयपत्तननायकं मे, राजर्षिमन्तिममुदायनमादिदेश ॥१०॥ पण्योदयेन कृतिनं जनकं भवन्तं, देवं गुरुं च जिनराजमवाप्य वीरम् । दष्कर्ममर्ममथनं यदि नाऽद्य कुर्वे, मत्तस्ततः क इव तात ! परोऽस्ति मृढः ? ॥११॥ नाम्नैव तावदभयोऽस्मि बिभेमि भीमा-दस्मात् पुनर्भवजदुःखभरादपारात् । तत्तात ! मां प्रहिणु येन जवेन यामि, वीरं विभ्ं भवभृतामभयैकदुर्गम् ॥१२॥ ऊचे नृपस्तदनु तं परिरभ्य पुत्र !, प्रेम्णा यदेति निगदामि रुषा भवन्तम् । आ: पाप ! याहि परत: पुरतो मम त्वं, दीक्षां तदा सपदि वत्स ! समाददीथा: २२ ॥१३॥ वज्रेण वज्रमिव तत् क्वचनाऽपि वेध्या, बुद्ध्याऽऽत्मनो नृपतिबुद्धिरसौ दृढाऽपि । एवं विचिन्त्य मितमानिति सोऽप्युवाच,

तातो यदा दिशति मेऽस्तु तदुत्तमाङ्गे ॥१४॥

स्थानानि यत्र परिहृत्य पराणि बाष्य: ।

जज्ञेऽन्यदाऽथ तुहिनर्तुरतीव जैत्रे,

निन्ये निशास्त्रहिनसौप्तिकभीविहस्तः, कान्ताक्चोच्चगिरिदुर्गभ्वं प्रविश्य ॥१५॥ स्वं जाड्यभारमपनेतुमिवैति यत्र, व्योम्नि हृतद्वतमयं गगनाध्वगोऽपि । इत्थं न चेत् कथमहो ! परवासरत्व-तुल्येऽपि यान्ति दिवसा लघुतां तदीयाः ॥१६॥ तेजो रवेरपि कुशं मिय सप्रतापे, स्यात् किं तदिद्धमधुनाऽस्य रुषा किलेति । मध्यानलं तमभिषेणयितं चकार, द्वाराणि योंऽहिष मिषेण विपादिकानाम् ॥१७॥ अर्कत्विषोऽरुणतयाऽनुमिता वसन्ति माञ्जिष्ठवाससि च विह्नशिखे च यत्र । एवं न चेदपरथा कथमेतदीयो, भोगस्तनोति जडतातनुतां जनेषु ॥१८॥ आगात्तदा मगधराजपुरं सुरङ्गे-(सुरौधै-) रासेव्यमानचरणो गणिभिर्गणैश्च । स्वामी तु दुस्तपतपः कृतकर्ममाथः, श्रीमानमेयमहिमान्तिमतीर्थनाथः ॥१९॥ श्रीश्रेणिकस्तमभिनन्तुमगादगाध-भक्तिक्रमोऽथ सह चेल्लणयाऽपरेऽहि । शृश्राव च श्रुतिसुखप्रदमादरेण, धर्मं कुकर्ममथनादम्तो जिनेन्द्रात् ॥२०॥ नाथं प्रणम्य नगरं प्रति तौ निवृत्ता-वेकं जलाशयतटे प्रतिमां दधानम् । शीते पतत्यपि निरावरणं मुनीन्द्रं, जायावती नयनयोरतिथि व्यधत्ताम् ॥२१॥ उत्तीर्य पृष्परथतस्तमवन्दिषातां, स्थित्वा क्षणं च तद्पास्तिरसेन तत्र ।

एतस्य दुष्करकृतश्चरितं स्तुवन्तौ,

मध्यं पुरो विविशतुर्विशदाशयौ तौ ॥२२॥
वातस्तदा चरमशैलवनात् स कोऽपि

जज्ञेऽन्तरभ्रकगृहं निभृतोऽपि येन ।
निर्वाणमाप सहसा तपनप्रदीपो,

देवे सुरक्षितमपि क्षयमेति रुष्टे ॥२३॥
अस्तं भास्वित भर्तरीव नियतेर्योगेन यातेऽपरा,
विश्वस्ता विनतेव दुःखिनिचता कृत्वा विलापाविलम् ।
कौसुम्भं त्यजित स्म वारिधिजले, सन्ध्याभ्ररागच्छलात्,

ध्वान्तेनाऽथ शुचा किलाऽऽशु किलताः सर्वा दिशोऽन्या अपि ॥२४॥
[शार्दूल॰]

जगितिमरपीडितं, निखिलमेतदालोकय-न्नुदीतकरुणाभरिस्त्रदशनाथिदग्मण्डनात् ।
निरीय जलधे: शनै-रिधरुरोह पूर्वाचलं,
निरीक्षितुमिवौषधी: स्वयमथौषधीनां पितः ॥२५॥ [पृथ्वी]
इत्यभयाभ्युदयनाम्न महाकाव्ये तृतीर्यः सर्गः ॥

ऐँ नमः [चतुर्थः सर्गः]

पूर्वशैलिशिरसः शनैः शनै-व्योर्ममध्यमिधगत्य^{२३} चन्द्रमाः । कौमुदीसमुदयेन सर्वतो, लोकलोचनततीरमोदयत् ॥१॥ [रथोद्धता] नाशमाप्यत तमोगजासुरः, शम्भुमूर्ध्नि विधुना यदुद्धरः । तत्तदीयमिव लक्ष्म लक्षत-श्चर्मचीवरपदिस्थिति दधौ ॥२॥ नैकमप्यसहनेषु योजनं, स्वीकरोति न स वैरिवारिभत् । ध्वान्तिमन्दुरुपहन्ति तल्लवं, बिभ्रदङ्कगतमङ्कदम्भतः ॥३॥ छत्रमेककमनङ्गभूभुजः, सार्वभौमपदवीनि^{२४}वेदकम् । भाति भातिशयपूरितं विधो-र्मण्डलं स्फटिककुण्डलं दिवः ॥४॥ श्रेणिकः परिसमाप्य भूपितः, सान्ध्यकार्यमिनवार्यवीर्यभः । वासवेश्म घनसारधूपितं, शिश्रिये तदनु चेल्लणासखः ॥५॥ [रथोद्धता] स्वैरेण सौख्यं रितजं निषेव्य, दोभ्यां मिथस्तौ परिरभ्य सुप्तौ । हस्तोऽथ देव्या बिहरावृतेर्द्राकः, निद्राश्लथाश्लेषतया बभूव ॥६॥ [इन्द्रवंशा] शीतेन तेन व्यथिता करे सा, भृशं वरोरुः समभूद्विनिद्रा । निनाय तं संवृतिमध्यमेव, भूयोऽपि शीत्कारकरास्यपद्मा ॥७॥ [उपजाति] निरावृति तं च मुनि तदानीं, ध्यात्वा कृपालुर्वदित स देवी । महानुभावः पततीदृशे हा !, शीतेऽतिरौद्रे भिवता कथं सः ? ॥८॥ इत्थं वदन्त्येव नृपप्रिया सा, भूयोऽपि निद्रासुखमाससाद । विकल्पदूरीकृतमानसानां, प्रायेण निद्रा सुलभा जनानाम् ॥९॥ शीतत्राणप्रचलनवशा-दल्पनिद्रो नरेन्द्रो,

निद्रामुद्रारहितनयनो ध्यायित स्माऽथ नूनम् । सङ्केतोर्वीगतिमिति नरं शोचयन्ती स्वरुच्यं,

किञ्चिच्छीतव्यथनमधिकं तस्य सम्भावयन्ती ॥१०॥ [मन्दा०] बिभ्रदेष इति चेतिस रोषं, गोपितर्गमयित स्म निशान्तम् । प्रायशो भवति वल्लभजानिर्नेष्यया विरहितो विदुरोऽपि ॥११॥ [रथोद्धता] अत्राऽन्तरे प्रकटवर्णपदां सरागा-मर्ण:प्रपूर्णघनगर्जितभीरधीराम् । मार्द्वीकपाकमधुरां मगधप्रकाण्डं, वाचं जगाद मगधाधिपबोधनाय ॥१२॥ [वसन्त०]

श्रीज्ञातनन्दनविभुर्भुवनैकभर्ता, देवस्तव प्रथयतात् पृथुमङ्गलानि ।

तद्वाक्यकृज्जनततिप्रतिबोधकारि^{२५}

ब्राह्म्यं मुहूर्तमिदमस्तु शिवाय देव ! ॥१३॥ [वसन्त०]

उत्तुङ्गमङ्गलमृदङ्गनिनादसङ्गी-

सङ्गीतके प्रसरित क्षितिपालयेषु ।

उत्सङ्गसङ्गिमृगवित्रसनं विभाव्य,

भीतो जगाम चरमाचलमौलिमिन्दुः ॥१४॥

सायं तमोभरकुरङ्गमदेन रात्रौ,

चन्द्रांशुचन्दनरसेन विलेपनं या ।

सा सम्प्रति व्यथितशीतभरेण भीता, पूर्वाङ्गनाऽरुणरुचा घुसृणाङ्गरागम् ॥१५॥ छिन्नाखिलामृतकले परवारिराशे– रद्धीदकं श्रितवति द्विजनायकेऽमी ।

शाखाभृतां शिखरतः खलु दुःखिनः स्वं,

मुञ्चन्ति काकु विरुवन्ति च हि द्विजन्माः ॥१६॥ क्षारेण वार्द्धिपयसा बहुनाऽप्यतृप्तः,

पातुं निरेति मधुरं जलमन्यदेष: । श्रीशारदावलयमण्डलमध्यवर्ती,

भानुच्छलेन वडवामुखचित्रभानुः ॥१७॥ देवस्त्रयीतनुरसाविति भानुमन्तं,

युक्तं पुराणगततत्त्वविदो वदन्ति । यस्य द्विजा अपि समागमने स्तुवन्तो,

मुञ्चन्ति विष्टरममी निजमीश ! पश्य ॥१८॥ पूर्वं मिलन्ति ककुभस्तिमिरेण नीली-

रागा हसन्ति सह चन्द्रमसा क्षणेन । रज्यन्ति बालतपनेन ततस्तदासां

धिक् चञ्चलत्विमिति चञ्चललोचनानाम् ॥१९॥ इत्थं निशम्य मगधाधिपतिर्विसृज्य,

देवीं विरागितमनाः स्वनिकेतनाय ।

आकार्य चाऽभयकुमारममात्यमित्या-

-देशं ददावथ भृशाभिनिवेशभीष्म: ॥२०॥ शुद्धान्त एष निखिलोऽपि मया कृशीलो,

ज्ञात: प्रदीपय तदेनमरे ! जवेन ।

कार्यं त्वयेत्यपरथा न हि मातृमोहा-

दुक्त्वेति नाथमभिनन्तुमयं जगाम ॥२१॥ सोऽथ स्वभावादपि दीर्घदर्शी,

व्यचिन्तयच्चेतसि तातभीते: २६ ।

पुराऽपि जानामि न मे जनन्यः,

शीलं विलुम्पन्ति युगात्ययेऽपि ॥२२॥ [उपजाित] तातस्त्वसम्भाव्यतमं विकल्प-ममुं दधौ तत् िकमहं करोिम । पुर: सित्पूर इवाऽविषद्धः, कोपो जनानामिप किं नृपाणाम् ? ॥२३॥ कालक्षेपः क्षेमहेतोस्तदिस्मन्, कार्यः किञ्चित्कल्पियत्वाऽप्युपािधम् । कालक्षेपात् कोपसंरम्भ एष, स्वान्ते येन स्वामिनः शान्तमेति ॥२४॥ [शािलनी] ध्यात्वा धीमािनत्ययं तत्समीपे, जीणां काञ्चित् कुम्भिशालामधाक्षीत् । चक्रे चाऽमुं सर्वतोऽपि प्रघोषं, भूपादेशादेष दग्धोऽवरोधः ॥२५॥ इतश्च वीरप्रभुिमत्यपृच्छत्, संयोज्य पाणी मगधािधराजः । आदिश्यतां चेटकपुत्रिकेयं, किमेकपत्नी ? किमनेकपत्नी ? ॥२६॥ [उपजाित] स्वामी जगादेति नरेन्द्र ! सर्वा, अपि प्रियास्ते ननु शुद्धशीलाः । स्मृत्वा पुनश्चेह्लणयेत्यवादि, शीते मुनिं तं भिवता कथं सः ? ॥२७॥ आकर्ण्येत्यनुतापपूरितमना भूपः पुरं प्रत्यसौ ।

यावद्धावित तावदर्द्धसरणा-वभ्यागतं धीसखम् । तं वीक्ष्येति जगाद किं नु विहिताऽऽज्ञा मे त्वया ? सोऽप्यवक्,

चक्रे सा ननु देवशासनमहं नोल्लङ्घये जातुचित् ॥२८॥ [शार्दूल०] कोपारुणाक्षः क्षितिपस्ततस्तं, जगाद पापिन् ! परतो व्रजाऽऽशु । दग्ध्वा स्वमातृः पतितोऽसि नाऽग्नौ, कथं मुखं दर्शयसे निजं त्वम् ॥२९॥ [उपजाति]

नृपोऽप्यनाकर्ण्य गिरं तदीयां, ययौ पुरेऽन्तःपुरमक्षतं तत् । विलोक्य जीर्णेभकुटीं च दग्धा-मशंसदुच्चैरभयस्य बुद्धिम् ॥३१॥ पाप ! व्रज त्वं परतो यदीदृक्, प्रोचेऽभयं प्रत्यथ तद्विमृश्य । राजा ययौ सान्त्वयितुं सुतं त-मत्युत्सुकः संसदि वीरभर्तुः ॥३२॥ गृहीतदीक्षं तमवेक्ष्य तत्र, भेजे विषादेन भृशं स भूपः । अथाऽभयस्तं प्रतिबोधवाक्य-मिदं जगाद प्रहतप्रमादः ॥३३॥ नरेन्द्र ! सन्धावचनं तदात्मनो, विचिन्त्य चेतः कुरु मा विषादयुक् । व्रतं मयाऽऽदायि जिनेन्द्रपाणिना, ततस्त्वमप्यत्र भजाऽनुमोदनाम् ॥३४॥ [वंशस्थ] नत्वा जिनं जिनमुनीनभयं च भक्त्या,

राजा ययौ पुरमथाऽनुशयं र दधान: ।

तप्त्वा तपश्चिरमसावभयोऽपि शस्त-

मध्यास्त^{२९} मध्यमविमानमनुत्तरेषु ॥३५॥ [उपजाति]

॥ इति अभयाभ्युदयनाम्नि महाकाव्ये चतुर्थः सर्गः ॥ ग्रं. ५५ अ.१ उभय ग्रं. - २६८ अक्षर-२९. ॥छ॥

- १६. 'योग्या'
 १७. '०गन्धर्व०'
 १८. 'प्रणिधे(धे:)'
 १५. 'प्रणिधे(धे:)'
 १५. 'प्रतिमानवर्णान् पत्रे' इति का.
 १६. 'अधीनविद्यः'
 १५. 'विलक्ष्यः' इति का.
 १६. 'तयाऽद्य'
 १५. 'तयाऽद्य'
 १५. 'मयेऽधिरूढः'
 १६. 'योग्या'
 १८. '०च सार्थः प्रयात्यसौं इति का०।
 १९. 'कस्या' इति का.
 १०. 'अनर्घ्यं वस्तु०'
 ११. 'स रूप'
 १२. 'समादधीथाः'
 १३. '०गम्य'
 १४. '०विवेट्यः'
 १४. '०विवेट्यः'
 १४. 'परट्यः'
 - १२. 'परतः'
 - १३. 'पुत्रोऽपि मित्रोपमः'
 - १४. 'तस्याः समं'
 - १५. 'भूय, भूप:' इति का. ।

- २४. '०विवेदकम्' इति का. । २५. '०वाक्यवज्जनः' २६. '०भीतः' २७. 'विमुञ्चन्ति' २८. 'पुनरथाऽनुशयं'

C/o. हार्दिक ड्रेसिस ५५, चकला स्ट्रीट, बीजे माळे. मुम्बई-३

२८ अनुसन्धान ४६

एक फूटकळ पत्र-अन्तर्गत शब्दयादी

कान्तिभाई बी. शाह

आचार्यश्री शीलचन्द्रसूरिजी महाराजने प्राप्त थयेल केटलांक फूटकळ पत्रो पैकीना एक पत्रमां कोई अभ्यासु जीवे केटलांक अपभ्रंश/जूनी गुजरातीना शब्दो संगृहीत कर्या छे. ए साहित्यना स्वाध्याय-वांचन माटे एमने ए उपयोगी जणाया हशे. एमणे करेली शब्दयादीमां प्रत्येक शब्दनी सामे संस्कृत अर्थो आपेला छे.

पू. महाराजश्रीए संस्कृतार्थवाळी आ शब्दयादीमां वर्तमान गुजरातीमां अर्थ अने जरूरी लागे त्यां टिप्पण आपवानुं मने सोंप्युं. शब्दोना चोकसाईभर्या गुजराती अर्थो मेळववा माटे, जयन्त कोठारी सम्पादित 'मध्यकालीन गुजराती शब्दकोश'मां पत्र-अन्तर्गत यादीमांना शब्दो क्रमशः जोवा मांड्या. त्यारे ख्याल आव्यो के आमांना मोटा भागना शब्दो 'म.गु.श.'मां नोंधायेला हता अने ते बधां स्थानोए 'उक्तिरत्नाकर' ग्रन्थनो आधार लेवायो हतो.

'उक्तिरत्नाकर' ग्रंथ श्रीसाधुसुन्दरगणीए रच्यो छे. कर्ताना सर्जनकाल ई. १६२४-१६२७ना गाळामां एनी रचना थई छे. ई. १९५७मां श्रीजिनविजय मुनिए आ ग्रन्थनुं सम्पादन कर्युं छे. आ सम्पादनमां 'उक्तिरत्नाकर' उपरांत बे अज्ञातकर्तृक औक्तिको पण एमां सामेल कराया छे. आ कृतिओमां जूनी गुजराती भाषाना शब्दोनी समज माटे संस्कृत पर्यायो अपायेला छे.

फूटकळ पत्रनी प्रस्तुत शब्दयादीमांना संस्कृत पर्यायो अने 'म.गु.श.'मां नोंधायेला 'उक्तिरत्नाकर'ना संस्कृत पर्यायोनी समानता परथी ए तो निश्चित थयुं के आ शब्दयादी मोटे भागे 'उक्तिरत्नाकर'ना सम्पादन ग्रन्थमांथी करवामां आवी हो.

जयन्त कोठारीए 'उक्तिरत्नाकर' ग्रन्थनो 'म.गु.श.'मां उपयोग करती वखते, गुजराती अर्थ आपवामां, ते ग्रन्थमां अपायेला संस्कृत पर्यायोनो आधार लीधो छे खरो, पण बधां स्थानोमां व्युत्पत्ति तरीके ए संस्कृत पर्यायोनी प्रमाणभूतता स्वीकारी नथी. केटलाक संस्कृत पर्यायो तो मूळ शब्दना कृत्रिम संस्कृतीकरण रूपे पण जोवा मळे छे. छतां बिनसंशयात्मक लागेला के अन्य आधारग्रन्थोमांथी सांपडता प्रमाणभूत संस्कृत शब्दोने व्युत्पत्तिस्थान तरीके दर्शाव्या छे.

अहीं में शब्दयादीना वर्तमान गुजराती अर्थ आपवामां मुख्यतया 'म.गु.श.'नो आधार लीधो छे. ते उपरांत क्वचित् 'सार्थ गुजराती जोडणीकोश' तेमज हिन्दी शब्दकोशनी पण सहाय लीधी छे. शक्य बन्युं त्यां व्युत्पत्ति आपी छे. अने जरूरी लाग्युं त्यां टिप्पणी (टि.) मूकी छे.

पत्रनी शब्दयादीनो क्रम यथावत् राख्यो छे. यादीमां नोंधायेला संस्कृत पर्यायो प्रत्येक शब्दने छेडे चोरस कौंस [] मां मूक्या छे.

मूळ ग्रन्थमांथी शब्दयादीनो उतारो करवामां केटलाक शब्दो खोटी रीते उतारायानुं पण मालूम पड्युं छे. क्यांक मूळ शब्द अने संस्कृत पर्याय भेगा लखायेला छे तो क्यांक एक शब्दनो अक्षर बीजा शब्दमां सरकी गयो छे. शक्य बन्युं त्यां आवां स्थानोए शुद्धि करी लीधी छे छतां अर्थ ज्यां मळ्यो नथी के संस्कृत पर्याय साथे मेळमां लाग्यो नथी के अर्थ अपाया छतां संशय रह्यो छे त्यां प्रश्नार्थ (?) कर्यो छे.

(a) O (a) A ii (i) ii ii ei	
होउ = थयुं (सं. भू परथी)	[एवं हवइ]
अथ = हवे, आरंभ (टि. 'अथ' संस्कृत शब्द छे.)	
प्रत्युत = किंवा, बीजी रीते, ऊलटी रीते (टि. 'प्रत्युत' संव	स्कृत शब्द छे.)
पूठिइं = पाछळ, - नी पछी	[अनु]
सामहु = सामुं(सं. संमुखकम् > सामहउ)	[अभिमुख]
डावउ = डाबो (दे०)	[वाम]
पाधरउ = सीधो, सरळ, भलोभोळो (सं. प्राध्वर; दे. पद्धर)[ऋजु, सरल]
हेठि = नीचे	[अध:]
ऊपरि = उपर	[उपरि]
आडउ = आडो, विघ्नरूप, अडपलो	[तिर्यक्]
त्रीच्छर = तीरछो, वांको, आडो, कतरातो	[तिरश्चीन:]

(सं. तिरश्चीन > प्रा. तिरिच्छ)

आगलि = आगळ, अग्रस्थाने, समक्ष, पहेलां, हवे पछी (सं. अग्र + ल) [अग्रे, पुर:] पच्छिलिउ = पाछलो, पाछळनो (सं. पश्च > पच्छ+ल) [पाश्चात्त्य:] सरीखउ = - ना जेवो, सरखो (सं. सद्धः) [सदृक्] [अतिसउल] (?) समान = - ना जेवुं, सरखुं. तादुक्ष: = तेना जेवुं, आबेहूब [तादृश:] अनेसउ = अनोखो (सं. अन्यादृशः) [अन्यसदृक्, अन्यसदृशः, अन्यसदृक्षः] तुं सरीखऊ = तारा जेवो [त्वादृश:] [मादृश:] म्ं सरीखड = मारा जेवो [युष्मादृश:] तुम्ह सरीखउ = तमारा जेवो अम्ह सरीखउ = अमारा जेवो [अस्मादृश:] [अर्वाक्] अरहउ = नजीक, अहीं, आगळ, आम (सं. आरात्) परहउ = दूर, तहीं, पाछळ, पछी तेम (सं. परात् / परस्मिन्) [पराक्] (टि. जूनी गुज.मां 'अरहउ-परहउ' अने अर्वा. गुज.मां 'अरुपरु' एम सामासिक शब्दप्रयोग वधु प्रचलित छे. जेनो अहींतहीं, आमतेम, नजीकदूर, आगळपाछळ - एवा अर्थसंदर्भे वपराश छे. 'ओरुं' = नजीक ए शब्द साथे अरहउ > अरुनुं उच्चारसाम्य जोई शकाशे.) पारवलि (?) = पार पामेलो, पारंगत, भणेलो (?) [पठित:] सर्वतो = सर्व प्रकारे, बधी बाजुए, चोतरफ (सं. सर्वतः) [विश्वक्] [समन्ततः] समन्तात् = सर्वत्र [अवाङ्मूक:] उगउमुगउ = ऊगोमूगो (टि. वर्तमानमां आवो शब्दप्रयोग प्रचलित नथी. 'म.गु.श.'ना सम्पादक आ शब्दने द्विरुक्त प्रयोग गणे छे. अर्ही अपायेलो संस्कृत पर्याय व्युत्पत्ति तरीके अस्वीकार्य छे.) झलझांखसउं = भळभांखळुं, मळसकुं [चलद्ध्वाङ्क्षम्]

```
ऊंधाधलउं = ऊंधांधळुं, झांखुं, चूंखडुं, चूंचळुं, मंद दृष्टिवाळुं [उद्घलिकम्]
सुगामणउं = सूग उपजावनारुं, घृणास्पद (सं. 'शूक' परथी.) [सूकाजनकम्]
अहिवा = विधवा (सं. अधवा)
                                                       [अविधवा]
सहव = सौभाग्यवती, संधवा स्त्री (सं. सुधवा)
                                                          [सुधव]
उत्तरिण्यु = ऋणमुक्त (हिं. उतरिन)
                                                    [ उत्तारितऋणम्]
पद् = जामीनगीरी आपनार, जामीन, जामीनदार
                                                          [प्रतिभू]
       (सं. प्रतिभ: > पडह् > पढ्)
पड्चउं = जामीनगीरीमां मुकेली वस्त्
                                                      [प्रतिभाव्यम्]
ऊपरियामणउं = व्याकुलता, खेद, चिंता [उत्कलिकाकुलं रणरणकं वा]
उल्य = ओल्युं, पेलुं
                                                  [अर्वाचीन] (?)
                                                  [पराचीनउ] (?)
पयलउ = पेलो, पेलं
विलखउ = उदास, करमाई गयेलुं, फिक्कुं (सं. विलक्ष)
                                                         [विलक्ष:]
                                                [जयद्रथवेला] (?)
डहरवार = ?
          (टि. 'म.गू.श.'मां डहर = खाबोचियुं (सं. दहरः) मळे छे.)
                                                      [तन्गमनिका]
तांगलिणी = मळविसर्जन करवं ते.
           (टि. 'म.गु.श.'मां 'तांगणी' छे.)
गोर्डगोसली = ?
                                                    [गोप्यशिलाका]
          (टि. 'म.गू.श.'मां अर्वा. गुज. अर्थ अंगे प्रश्नार्थ छे.)
ककरडी = नानो ककरडो, विवाह प्रसंगे कचरो पूंजो [अवकरोत्करिता]
            नाखवानी जगा. (दे. उक्करडी)
पुञ्जो = ढगलो (सं. पुञ्ज)
                                                        [अवकर:]
चउकीवट् = बाजोठ, बेसवानी पाट (सं. चतुष्कपट्टः)
                                                      [चतुष्कपट्टः]
वटवालनडं = वोळावियापणुं
                                                       [वर्त्मपालनं]
बेहडउं = बेड्
                                                         [द्विघटम्]
गृढउं = छानुं, घेरुं, न समजाय तेवं (सं. गृह्य)
                                                        [गुदगृढम्]
                                                   [क्षिप्रसरहिंडिका]
खिसरहंडी = ?
```

प्रश्नार्थ.) उरसउं = ? [वघर्ष:] (?) वेसरद = ? [**विश**रीरी] (?) अरतपरत बाप सरीखड = आकृतिए प्रकृतिए बापना जेवो. (सं. 'आरात् परात्' परथी) [आकृत्या प्रकृत्या पितासदृश:] अगेवाणु = आगेवान, आगळ रहेनार, मोखरानुं (सं. 'अग्र' परथी) [अग्रेनीक:] पछेवाण = पाछळ रहेनार, पाछळ रहेवुं ते. [पश्चादनीकम्] व्सट = तमाचो [चपेटा] चृहण्टी = ? [चञ्चपटिका] (?) कावडि = कावड (दे.) [कायाटना, कायविलिनी] गरढउ = घरडो, वृद्ध (सं. जरठ) [गतार्थवय:] वच्छीयात = आद्रतियो [वस्तुवित्त:] नीक = पाणी जवानो मार्ग [नीराक्षा] (टि. 'नीक' संस्कृत छे. पण 'नीक'नो बीजो अर्थ 'हाथपग दखवानो के खंजवाळनो रोग' पण थाय छे. (सं. नीरक्ता परथी.) 'म.ग.श.'मां 'उक्तिर॰'नो आ शब्द बन्ने अर्थमां नोंधायेलो छे.) उसलसींधरं = ? [उल्लासितसन्धिकम् के उतशलंध्र] (?) (टि. 'म.ग.श.'मां आ शब्द 'उक्तिर०' मांथी 'ऊसलसीधुं' रूपे नोंधायेलो छे. अर्वा. अर्थ अंगे प्रश्नार्थ.) वेगडि = सीधां खुल्लां मोटां शिंगडांवाळी गाय, उत्तम प्रकारनी गाय. (सं. 'विकट' परथी.) [विकटशुङ्गी] मीढी = वांकां शिंगडांवाळी [मिलितशङ्गी] कुण्डली = कुंडाळुं-गूंचळुं वळेलां शिंगडांवाळी [कुण्डलितशृङ्गी] लिपसणउं = लपसणुं [लिप्सायनम्]

(टि. 'म.गु.श.'मां शब्द नोंधायेल छे, पण अर्वा. गुज. अर्थ परत्वे

(टि. 'म.गृ.श.'मां आ अर्थ अटकळे अपायो छे.)

```
वहली = वसुकी गयेली
                                                       [वीतवेत्रा]
पटान्तरम् = पडदो, अन्तराय, भेद
                                                      [प्रत्यन्तरम]
          (टि. 'म.गु.श.'मां आ शब्द 'पटांतरुं' एम नोंधायेलो छे.)
विहाजाहरी (?) = ?
                                                [विजयगृहा] (?)
कोठउं = कोठो. ओरडो
                                                        [कोष्ठक:]
डोकर = वृद्ध, घरडो (दे. डोक्कर)
                                                     [डोलत्कर:]
छेकडी = छेकवानं साधन के छिद्र पाडवानं साधन.
                                                       [छिद्रकरी]
          (टि. 'म.ग्.श.' आ अर्थने तेमज अहीं अपायेला संस्कृत पर्यायने
          संशयात्मक गणे हो.)
सीरामण् = भातुं, सवारनो नास्तो [शीताशनम्, शरीराप्पयकं वा]
सउडी = रजार्ड, सोंड
                                                      [संवृतपटी]
          (टि. 'म.गृ.श.' 'सउडी' ने देश्य शब्द गणे छे.)
सीरख = रजाई, गोदडी (टि. राजस्थानमां प्रचलित)
                                                       [शीतरक्षा]
तलाई = तळाई, गादलं
                                                       [तूलिका]
उसीसउं = ओशीकुं (सं. उच्छीर्षकम्)
                                                   [उपधानम्] ?
सिलाट = सलाट
                                                   [शिलाघटिक: ]
(टि. 'म.गू.श.'मां 'उक्तिर॰'मांथी ज आ शब्द 'सिलावटउ' रूपे नोंधायेलो
छे अने एनी व्युत्पत्ति छे सं. शिलावर्त्मकः)
खण्डायत् = तलवारधारी
                                                    [खड्गवित्त:]
जच्छायत् (?) = भाथाधारी
                                                      [तुणवित्तः]
          (टि. अहीं संस्कृत पर्यायना 'तूण' शब्दने आधारे अर्वा. अर्थ
          आप्यो छे.)
पुणी = ?
                                                       [पिचुमर्दी]
आडण = अंगशोभा, अंगमण्डन
                                                   [अङ्गमण्डनम्]
                                                       [दीर्घिका]
खडोखली = क्रीडा माटेनी वाव, होज, कुण्ड.
          (दे. खड् + ओखली)
```

बगाई = बगासुं

[जृम्भिका]

चीपडउ = चपटुं ?

[चिपट:]

(टि. 'सार्थ जोडणीकोश' 'चीपडुं'नी व्युत्पत्ति प्रा. चिप्पड (= चपटुं) आपे छे. 'म.गु.श.'मां 'उक्तिर॰' मांथी 'चीपडीउ, चीपिडउ' शब्द नोंधायेल छे. एनो अर्वा. गुज. अर्थ 'एक झेरी जीवडुं' मळे छे. (सं. चिपिटकः)

गूंहली = गरोळी

[गोमुखा]

(टि. 'म.गु.श.'ने आ अर्थ विशे संशय छे.)

कोसीढ(ट?)उ = रेशमनो कीडो ?

[कोषसमृद्ध:]

(टि. 'म.गु.श.'मां 'उक्तिर॰'नो 'कोसींटउ' शब्द छे. अर्थ 'रेशमनो कीडो, एनुं कोकडुं' मळे छे. त्यां संस्कृत पर्याय 'कोषस्थः' अपायो छे.)

चणहटी = कोई प्राणीनाम ?

[चणकप्रवर्तक:]

(टि. 'म.गु.श.'मां आ शब्द 'चणहडीउ' रूपे 'उक्तिर॰'मांथी नोंधायेलो छे. अने त्यां एनो संस्कृत पर्याय 'चणकवर्तकः' अपायो छे.)

लउंकडी = लोंकडी (दे. लुंकडी)

[लोमकटिका]

सवार = शीघ्र, सवेळा

[सवेला]

कालाखरिउ = धीमेथी अक्षर शीखनार, वांचतां शीखवानुं शरू ज कर्युं होय तेवो.

(सं. कालाक्षरिक:)

[कृष्णाक्षरित:]

दाणीघणीउ = देवादार, करजदार

[ऋणतः]

(टि. 'म.गु.श.' मां आ शब्द 'दाणी (घंणी), दाणीगणि' तरीके नोंधायेलो छे.)

त्रोटी = काननुं एक घरेणुं (रा.)

[त्रिपुटी]

अजूयातउं = ?

[उद्मद्यमानम्] (?)

(टि. 'अजूयालउं' शब्दनी संभावना. तो एनो अर्थ 'उजाळायेलुं' थाय. (सं. उज्ज्वालियतुम्)

```
[उहद:]
ऊगडउ = ?
बयकारु = गानार (सं. वाग्+गेयकार, प्रा. वइकार)
                                                        [गोयकार]
                                                        [चित्रपृष्टा]
चिणोठी = चणोठी (दे. चिणोट्रि)
                                                   [अपराक्षा] (?)
अडक = ?
     (टि. 'म.गु.श.'मां 'अडकदडक' शब्द मळे छे, जेनो अर्थ 'दडी
     जवाय- गबडी पडाय' थाय छे.)
ढाकणउं = ढांकण ? ढांकवुं ते ?
                                                       [छागनकम्]
स्णहरउं = शयनगृह
                                                       [शयनगृहम्]
पाथरणुं = पाथरवा माटेनुं जाडुं कपडुं, जाजम
                                                        [प्रस्रणम्]
उढणउं = ओढणं, स्त्रीने ओढवानुं वस्त्र (दे. ओड्ढण)
                                                     [आच्छादनम्]
नणंद = वरनी बहेन (सं. ननान्द्र > प्रा. णणंदा)
                                                          [ननन्दा]
                                                      [ननान्द्रपति:]
नणदोई = नणंदनो पति
जमाई = पुत्रीनो पति
                                                         [जामाता]
नाणिद्रउ = नणंदनो पुत्र (सं. नानान्द्र:, रा.नांणदौ)
                                                      [ननान्द्रसुत:]
भत्रीजो = भाईनो पुत्र (सं. भ्रातुव्य > प्रा. भत्तिज्ज)
                                                         [भ्रातृजः]
                                                       [निर्नेजक:]
परीयट् = धोबी (दे. परिअट्ट)
छीपउ = कपडां रंगनारो, छीपो (दे. छिपय)
                                                          [रजक:]
                                                      [कौतुकिक:]
कउतिगीउ = कौतुक-नवाई पमाडनार
                                                   [स्फुरितचक्रिका]
फिरक: = फिरकी
                                                    [पादप्रहारवती]
पाद्व्याली = पादप्रहारिणी, पादु मारती
        (टि. 'म. गु. श.'मां 'उक्तिर॰'नो आ शब्द 'पाट्रआली' रूपे
        नोंधायेलो छे.)
                                                        [परमदिव]
परमृणउ = परम दिवसनुं (सं. परमदिवसीय)
                                                     [प्राक्वर्षायाम्]
परोक्तं = पाछला वर्षे ?
           (टि. आ अर्थमां तळपदो शब्द 'पौर' वपराशमां छे.)
                                                           [दीर्घ:]
सरलउ = दीर्घ, प्रलम्ब (सं. सरल+क)
```

•	5 3
घडउ = घडो	[ਬਟ:]
उघडहू = ?	[उग्घटु] (?)
कहुआलउं = कोलाहल	[कोलाहल:]
अरणइ = अरति, असुख, पीडा, शोक, चिन्ता	[अरति:]
मोलीउं = साफो, फेंटो (सं. 'मौलि' परथी)	[मूईवेष्टनम्]
परिवारिउं = पार पडाएलुं ? आटोपायेलुं ?	[प्रपारितम्]
पालटउ = पलटो, परिवर्तन	[परिवर्त]
पालटिउं = पलटायेलुं, परिवर्तन पामेलुं	[परिवर्तित:]
विहरउ = वहेरो, आंतरो, तफावत (सं. व्यवहार)	[व्यतिकर:]
बापडो = बापडो, बिचारो, रांक (दे० बप्प)	[वराक:]
(टि. 'म.गु.श.'मां आ शब्द 'प्रा.गु.का.'मांथी	'बप्पुडउ, बापुडउ'
रूपे नोंधायेलो छे.)	
लगाडिउ = लगाडायेलुं ?	[लागित:]
पालउ = पगे चालतो, पाळो	[पादवार:]
सोहिलुं = सुखभर्युं, सुखदायक (सं. 'सुख' परथी)	[सुखावहम्]
दोहिलउं = दु:ख आपनारुं, दोह्यलुं, कपरुं	[दु:खावहम्]
(सं. दुःख + इल्ल)	
रुलियामणो = रळियामणो, सुन्दर (दे. रली-परथी)	[रतिजनकः]
उदेगामणउं = उद्वेग पेदा करनारुं	[उद्वेगजनकम्]
राउताई = राजपूतपणुं, वीरत्व (सं. राजपुत्र-परथी)	[राजपुत्रता]
असउणिउ = अपशुकनियाळ, अपशुकन पामेलो	[अपशकुनित:]
अंबोडउ = अंबोडो	[धम्मिल]
वीणि = वेणी, चोटलो	[वेणी]
·	

जैत श्रावकाचाव में पद्धह कर्मादात : एक व्यमीक्षा* डॉ. कौमुदी सुनील बलदोटा

प्रस्तावना

श्वेताम्बर जैन परम्परा के मन्दिरमार्गी, स्थानकवासी तथा तेरापंथी तीनों सम्प्रदायों में नित्यपाठ के आवश्यकसूत्र में श्रावकव्रतों के अतिचारों में पन्द्रह कर्मादानों का उच्चारण किया जाता है। पन्द्रह कर्मादानों को उनके सम्बन्धित विवरणात्मक ग्रन्थों में निषिद्ध व्यवसायों के रूप में प्रस्तुत किया है। निषिद्ध व्यवसायों का स्वरूप, उनकी संख्या, ये व्यवसाय करनेवाले व्यावसायिक आदि के बारे में मन में जिज्ञासा उत्पन्न हुई तथा अनके प्रश्न भी उठें। इनका मूलगामी शोध लेते हुए जो अनेक तथ्य सामने उभरकर आए, उसकी समीक्षा इस शोधलेख में करने का प्रयास किया है।

कर्मादानसम्बन्धी आधारभूत ग्रन्थ :

पाँचवें अर्धमागधी अंगग्रन्थ भगवती (व्याख्याप्रज्ञिति) के आठवें शतक के पाँचवें उद्देशक में आजीविकिसद्धान्त का निरूपण किया है। आजीविक जिन क्रियाओं को निषिद्ध मानते हैं ऐसी प्राय: पशुसम्बन्धित क्रियाओं की गिनती वहाँ की गयी है। उसके अनन्तर जैन श्रावकों द्वारा वर्जनीय पन्द्रह कर्मादानों का निर्देश है।

विशेष लक्षणीय बात यह है कि भगवती में कर्मादानों को श्रावकव्रत के अतिचार के रूप में प्रस्तुत नहीं किया है तथा टीकाकार ने भी श्रावकव्रत के अतिचार से इसका सम्बन्ध नहीं जोडा है।

सातवें अर्धमागधी अंगग्रन्थ उपासकदशा का विषय श्रावकाचार ही है। पहले 'आनन्दश्रावक' अध्ययन में बारह श्रावकव्रतों के अन्तर्गत द्वितीय गुणव्रत स्वरूप सातवें उपभोगपिरभोगपिरमाणव्रत के अतिचार के रूप में पन्द्रह कर्मादानों का निर्देश है। कहा है कि, 'कम्मओ णं समणोवासएणं पणरस

[★] ऑल इंडिया ओरिएण्टल कॉन्फरन्स (AIOC) अधिवेशन ४४, कुरुक्षेत्र, जुलै २००८ में पढा गया शोधपत्र.

कम्पादाणाइं जाणियव्वाइं, न समायिरयव्वाइं, तं जहा - इंगालकम्मे वणकम्मे साडीकम्मे भाडीकम्मे फोडीकम्मे दंतवाणिज्जे लक्खवाणिज्जे रसवाणिज्जे विसवाणिज्जे केसवाणिज्जे जंतपीलणकम्मे निल्लंखणकम्मे दविग्गदावणया सरदहतलायसोसणया असईजणपोसणया ।"

अर्धमागधी मूलसूत्र 'आवश्यक' में छठें प्रत्याख्यान अध्ययन में भी उपासकदशा के समान ही कर्मादानों का विवरण है।

तत्त्वार्थसूत्र के सातवें अध्याय के सोलहवें सूत्र के भाष्य में, अशनपान आदि का परिमाण करने के लिए कहा है। स्वोपज्ञ भाष्य में पन्द्रह कर्मादानों का उल्लेख नहीं है। सिद्धसेनगणिकृत टीका में भाष्य के आधार से 'आदि' शब्द के अन्तर्गत पन्द्रह कर्मादानों का उल्लेख किया है। वहाँ स्पष्ट कहा है कि, 'प्रदर्शनं चैतद् बहुसावद्यानां कर्मणां, न परिगणनमित्यागमार्थः।'

इससे स्पष्ट होता है कि तत्त्वार्थभाष्य के काल में (लगभग पाँचवी सदी) १५ कर्मादानों की कल्पना दृढमूल नहीं थी। लेकिन सिद्धसेनगणि के काल तक (लगभग आठवी-नवमी सदी) पन्द्रह कर्मादानों की धारणा, उपदेश तथा प्रवचनों के द्वारा दृढ होती चली होगी। इसी वजह से उन्होंने पन्द्रह कर्मादानों का परिगणन सर्वसमावेशक न होने का जिक्र किया होगा।

आचार्य हरिभद्र ने आठवी शताब्दी में जैन महाराष्ट्री भाषा में श्रावकधर्म का विवेचन करनेवाले श्रावकप्रज्ञित तथा श्रावकधर्मिविधिप्रकरण नाम के दो स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे हैं। तथा पंचाशक और पंचवस्तुक इन ग्रन्थों में भी श्रावकव्रतों का निरूपण किया है। इन सभी ग्रन्थों में उन्होंने भी पन्द्रह कर्मादानों का अतिचार के रूप में ही प्ररूपण किया है। तथापि स्पष्टतः उद्धृत किया है कि, 'भावार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादेव अवसेयः।' पन्द्रह कर्मादानों की गिनती सर्वसमावेशक नहीं है, यह दर्शानेवाला तत्त्वार्थसूत्रभाष्य की सिद्धसेनगणिकृत टीका का ही उपरोक्त वाक्य हरिभद्र ने उद्धृत किया है।

कर्मादानों का सुविस्तृत विवेचन श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्र की रत्नशेखरसूरिकृत टीका में उपलब्ध है। इन पन्द्रह कर्मादानों से जुड़े हुए बहुतसे व्यवसायों का विस्तृत विवेचन रत्नशेखरसूरि ने किया है। विवेचन के बीच 'मनुस्मृति', 'परजनों के द्वारा किया हुआ निषेध' तथा 'लौकिकों द्वारा इनका महापातकत्व' भी स्पष्ट किया है। अन्त में अन्यान्य 'खरकर्मों' का भी निर्देश है। अन्तिमतः सर्वांगीण व्रतपालन की फलश्रुति भी दी है।' इस समग्र विवेचन के ऊपर ब्राह्मण परम्परा का प्रभाव स्पष्टतः दिखायी देता है।

पन्द्रह कर्मादानों का स्वरूप :

(अ) कर्मादान शब्द का अर्थ:

भगवतीसूत्र की टीका के अनुसार, 'कम्मादाणाइं' ति कम्मीणि – ज्ञानावरणादीन्यादीयन्ते यैस्तानि कर्मादानानि अथवा कर्माणि च तान्यादानानि च – कर्मादानानि कर्महेतव इति विग्रहः ।' अर्थात् ऐसे कर्म अथवा व्यापार जिनसे ज्ञानावरणादि कर्मों का प्रबल बन्ध होता है।

भगवती में स्पष्ट लिखा है कि इन कर्मादानों का सेवन श्रावकों को न स्वयं करना चाहिए, न दूसरों से कराना चाहिए और न करनेवाले अन्य किसी का अनुमोदन या समर्थन करना चाहिए ।°

(ब) पन्द्रह कर्मादानों का स्पष्टीकरण:

पन्द्रह कर्मादानों का स्पष्टीकरण श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्र की टीका में निम्नलिखित प्रकारसे है –

- (१) **इंगालीकम्म (अङ्गारकर्म):** काष्ठदाह से अंगार बनाना, कोयला बनाना, भाड में ईटें पकाना, कुम्भकार, लोहकार, सुवर्णकार आदि के कर्मी को भी अङ्गारजीविका कहा है।
- (२) वणकम्म (वनकर्म): वन से सम्बन्धित पत्र, पुष्प, फल, कन्द, मूल, तृण, काष्ठ तथा बांस आदि का विक्रय करना, वनों को बाड लगाना, बस्ती आदि के लिए जंगल साफ करना, जंगल में आग लगाना, धान्य पीसना आदि ।
- (३) साडीकम्म (वनकर्म): शकट अर्थात् बैलगाडी, रथ आदि बनाकर बेचने का धन्धा करना ।
- (४) भाडीकम्म (भाटककर्म): पशु, बैल, अश्व आदि को भाटक

- (भाडे) पर देने का व्यापार करना ।
- (५) फोडीकम्म (स्फोटककर्म): यव, चणक, गोधूम, करड आदि से सत्तू, दाली, पिष्ट और करम्ब आदि बनाना । कुआँ, सरोवर आदि के निर्माण के लिए खान खोदना, पत्थर फोडना, आदि व्यवसाय करना ।
- (६) दंतवाणिज्ज (दन्तवाणिज्य): हाथी के दांत, उल्लू के नख, हंस के पंख, हिरन-व्याघ्र आदि का चर्म, शंख, शुक्ति, कस्तुरी आदि का व्यापार करना ।
- (७) **लक्खवाणिज्ज (लाक्षावाणिज्य):** लाक्षा, धातकी, नीली, मन:शिला, हरिताल, पटवास, टंकण, क्षार आदि का विक्रय करना ।
- (८) **रसवाणिज्ज (रसवाणिज्य):** मधु, मद्य, मांस, म्रक्षण, दुग्ध, दिध, घृत, तैल आदि का विक्रय करना ।
- (९) केसवाणिज्ज (केशवाणिज्य): दास-दासी एवं पशु आदि जीवित प्राणियों के क्रय-विक्रय का धन्धा करना ।
- (१०) विसवाणिज्ज (विषवाणिज्य): विष का विक्रय करना तथा खड्ग, कुद्दाल, हल आदि शस्त्रों का विक्रय करना ।
- (११) जंतपीलणकम्म (यन्त्रपीडनकर्म): ऊखल-मुसल, अरहट्ट आदि का विक्रय करना, इक्षु-सर्षप आदि से तैल निकालकर विक्रय करना तथा जलयन्त्र आदि बनाकर विक्रय करना।
- (१२) निल्लंखणकम्म (निर्लाञ्छनकर्म): बैल आदि के शृंग-पुच्छ आदि तोडना, नासावेध करना, पशुओं की त्वचा पर दाह करना, बैल आदि को नपुंसक बनाना इन सब कर्मों की गिनती यहाँ की है।
- (१३) **दविग्गदावणया (दवाग्निदापन):** भील आदि वनों को दवाग्नि देकर ख़ुशी से रहते हैं। जमीन को उपजाऊ बनाने के लिए जंगल में आग लगाना, जलाना आदि खरकर्मों का समावेश इसमें किया है।
- (१४) सरदहतलायसोसणया (सरद्रहतडागशोषण): बीज बोने के लिए तालाब, झील, सरोवर, नदी आदि जलाशयों को सुखाना।

(१५) असईजणपोसणया (असतीजनपोषण): धन कमाने के लिए और व्यभिचारवृत्ति के लिए वेश्या, दासी, नपुंसक आदि का पोषण करना। शुक-सारिका-मार्जार-कुक्कुट-मर्कट-श्वान-शूकर आदि का पोषण करना।

इंगाली आदि कर्मादानों से अग्निकायिक आदि एकेन्द्रियों की तथा सभी षड्जीवनिकायों की हिंसा होती है। इसलिए ये कर्म निषिद्ध माने गये हैं।

कर्मादानों के स्वरूप की समीक्षा:

- इन पन्द्रह में से दन्त-रस-लक्ख-विस और केस इन शब्दों के साथ ही 'वाणिज्य' शब्द का प्रयोग हुआ है। बाकी सबको सिर्फ 'कर्म' कहा है। इससे शायद यह सूचित होता है कि निषिद्ध व्यवसाय के रूप में ये पाँच ही प्रमुखता से अपेक्षित है।
- सामान्यतः पन्द्रह कर्मादानों को उपभोगपिरभोगपिरमाणव्रत के अतिचार के रूप में प्रस्तुत किया गया है। अन्य श्रावकव्रतों के भी पाँच पाँच अतिचारों की गिनती की गयी है। उदाहरण के तौर पर सामायिकव्रत के अतिचार में कहा है कि अगर सामायिक करते समय हम यह भूल गये कि हम सामायिक कर रहे हैं और अन्य विचार तथा काम करने लगे तो यह सामायिकव्रत का अतिचार हुआ। इसपर क्या उपाय है? जब हमें खुद का दोष महसूस हुआ तो हम प्रतिक्रमण आदि करके उस दोष से निवृत्त हो सकते हैं और स्वस्वरूप में स्थित हो सकते हैं।

लेकिन कर्मादानों के बारे में इस प्रकार की प्रक्रिया हम नहीं कर सकते। अगर हमारा इक्षुरस बनाने का व्यवसाय है तो हमें जानना चाहिए कि यह 'यन्त्रपीडनकर्म' है। समझो कि हमें यह सच मालूम हुआ तो प्रतिक्रियारूप उस व्यवसाय को ही हमेशा के लिए छोड दे या हररोज उसका प्रतिक्रमण करते रहें? इस प्रकार बहुत सारे कर्मादानों को 'अतिचार' रूप लेने में अडचनें पैदा होती हैं। वे सुलझाने का दिग्दर्शन इस श्रावकाचार से नहीं मिलता। ४२ अनुसन्धान ४६

• लकडियों का व्यवसाय, संगमरमर का व्यवसाय, दाल बनाने का व्यवसाय आदि व्यवसाय जैन लोग पीढियों से करते आ रहे हैं। इन व्यवसायों में वे लकडी आदि दूसरों से कटवाते हैं। लेकिन करवाना और अनुमित देना, ये दोनों तो उनको करना ही पडता है। इसलिए तीन करण से अतिचाररहित होना संभव नहीं है। यही बात बहुत सारे व्यवसायों के बारे में कही जा सकती है।

- कोयला बनाना, तेल निकालना, औषधी बनाना आदि व्यवसाय निषिद्ध माने हैं। जैन गृहस्थ को कोयला (आधुनिक काल में रॉकेल, गॅस इत्यादि), तेल आदि का उपयोग रसोई बनाने के लिए तो करना ही पडता है। इससे यह निष्पन्न होता है कि अगर कोयला, तेल आदि दूसरों ने बनवाया तो जैन श्रावक वह चीजें उपयोग में ला सकते हैं। मतलब यह हुआ कि उसमें निहित हिंसा के भागीदार हम नहीं बनना चाहते। दूसरों द्वारा बनायी गयी चीजों का अगर हम इस्तेमाल कर सकते हैं तो खुद को उन चीजों को बनाने का या बेचने का निषेध तर्कसंगत नहीं लगता।
- किसी भी हिंसक वृत्ति के आधार पर बनायी हुई चीज अगर हम पूरी ही त्यज दें तो उसका व्यवसाय निषिद्ध माना जा सकता है। जैसे कि हस्तिदंत, मृगाजिन, रेशम आदि का जैन लोग सामान्यत: त्याग करते हैं तो उनपर आधारित व्यवसायों को निषिद्ध मानना ठीक है। लेकिन हम शकर, गुड, आटा, तेल आदि सब रोज इस्तेमाल करते हैं तो उसपर आधारित व्यवसाय निषिद्ध नहीं माने जा सकते।
- इन कर्मादानों में 'कृषि' का निर्देश नहीं है। लेकिन हल, कुदाल, जलयन्त्र आदि कृषि के औजारों का निर्देश है। भ. ऋषभदेव के द्वारा असि, मसि, कृषि का प्रणयन होने की परम्परा होने के कारण इसमें कृषि का समावेश नहीं किया गया होगा।
- 'परम्परा से पन्द्रह कर्मादानों की जो सूचि चलती आयी है वह सर्वसमावेशक नहीं है' - इस तथ्य को हरिभद्रसूरि, सिद्धसेनगणि,

रत्नशेखरसूरि जैसे आचार्य अच्छी तरह जानते हैं । अगर इस प्रकार निषद्ध व्यवसाय अनिगनत हैं तो उनकी 'पन्द्रह' संख्या निर्धारित करना युक्तियुक्त नहीं है । साक्षात् पंचेन्द्रियों के वध पर आधारित व्यवसाय न करने का संकेत दिया होता तो वह भी काफी होता था । आश्चर्य की बात यह है कि मत्स्यव्यवसाय, कसाईखाना चलाना आदि व्यवसायों का इनमें निषेध के तौर पर निर्देश नहीं है । इसकी सम्भावना तो यह होगी कि अहिंसा की प्रधानता होने के कारण कोई भी जैनधर्मी इसे स्वाभाविकता से ही निषद्ध समझता होगा । इसी वजह से अलग गिनती की जरूरी नहीं लगी होगी ।

भगवान महावीर के जीवनकाल में समाज के सामान्य स्तर के कई लोग उनके संपर्क में आए । लकडहारे, कुम्हार, सुनार आदि के उल्लेख आगमों में पाये जाते हैं । आचारांग में स्पष्ट निर्देश है कि इन सब लोगों के निवासस्थान में या उनके नजदीक भ. महावीर ठहरते भी थे। १० इनमें से कई लोगों ने श्रावकदीक्षा भी ग्रहण की थी । इनमें से किसी को भी भ. महावीर ने उनके निषिद्ध व्यवसाय त्यजने का निर्देश नहीं किया है । इस आगमिक प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि भ. महावीर के जीवनकाल में इन पन्द्रह कर्मादानों की मान्यता प्रचलित नहीं थी ।

कोई भी धर्मप्रचारक अगर धर्मान्तर के समय लोगों को उनका परम्परागत व्यवसाय छोडने को कहे तो धर्मप्रसार में जरूर बाधा उत्पन्न होगी । भ. महावीर के काल में तो जैन धर्म का प्रसार काफी मात्रा में हुआ था ।

यह एक सामाजिक तथ्य है कि जिस जिस समय जैन समाज पर हिन्दुधर्म का प्रभाव बढता गया उस समय जैन आचार में हिन्दु समाज में प्रचलित मान्यताओं का जोर बढता गया । प्राय: सातवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक हिन्दु धर्म की जात्याधार वर्णव्यवस्था का प्रभाव जैनों पर भी पडा होगा । इसी वजह से ब्राह्मणों ने जिनको शूद्रों के तथा अतिशूद्रों के व्यवसाय माने थे, उनको जैन परम्परा ने भी निम्न दर्जे के व्यवसाय समझकर निषेध किया होगा। मनुस्मृति के अनुसार सुतार, लुहार, कुम्हार, स्वर्णकार लोगों को शूद्र माना है तथा चाण्डाल जैसे लोगों को अतिशूद्र माना है। इसी वजह से इंगाली, वण, दन्त, लाक्षा, निल्लंछण, दविग्गदावणया आदि व्यवसाय निषिद्ध व्यवसायों के तौरपर माने गये होंगे। वर्णव्यवस्था के अनुसार 'वैश्य वर्ण' शूद्र और अतिशूद्रों से उच्च माने गये हैं। यही धारणा पकडकर शूद्रों द्वारा किये गये व्यवसायों का निषेध किया गया होगा। श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्र में तो साक्षात् मनुस्मृति का ही उल्लेख किया है –

सद्यः पतित मांसेन, लाक्षया लवणेन च । त्र्यहेण शूद्रीभवति, ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात् ॥

- जब तक यह व्यक्तिनिष्ठ और छोटे पैमाने पर चलनेवाले व्यवसाय थे तब तक ठीक था। लेकिन आज विविध यन्त्रों की, कारागिरों की मदद से जब हरेक छोटे व्यवसाय का उद्योग (Industry) बनने जा रहा है तब इन व्यवसायों की ओर उच्चनीचता की दृष्टि से देखने की भावना नष्ट होती जा रही है। इसलिए आधुनिक पिरप्रेक्ष्य में आवकाचार में पन्द्रह कर्मादानों की संकल्पना का औचित्य प्रायः लुप्तप्राय ही है।
- प्राचीनतम जैन आगमों में गृहस्थों के लिए जो षट्कर्म बताएँ हैं उनमें असि, मसि, कृषि, विद्या और वाणिज्य के अतिरिक्त शिल्प का भी उल्लेख है। समवायांगसूत्र में बहत्तर कलाओं के नाम भी दिए हैं। ११ अगर इन सबका प्रचलन जैन समाज में होगा तो पन्द्रह कर्मादानों को उसमें कोई अवकाश ही नहीं है।
- ये पन्द्रह कर्मादान कई बार अन्योन्याश्रित हो जाते हैं। इसी वजह से सिन्दिग्धता भी पैदा होती है। 'रसवाणिज्ज' और 'जंतपीलण' इनमें भेद करना कठिन है। यन्त्रपीडन के बिना किसी भी प्रकार का रस या तेल संभव नहीं है। व्यवसाय के तौरपर यन्त्रपीडन

अत्यावश्यक ही है। ईख से गुड या शक्कर बनाने के लिए ईख का यन्त्रपीडन आवश्यक है। तेल निकालने के लिए भी यन्त्रपीडन आवश्यक है।

रसवाणिज्य में मुख्यतः मद्य की गिनती की है। जब सस व्यसनों में मद्य का निषेध स्पष्टतः किया है तो यहाँ रसवाणिज्य में उसे अन्तर्भूत करना अटपटा सा लगता है। रसवाणिज्य अगर निषिद्ध माना जाए तो आधुनिक परिप्रेक्ष्य में सभी प्रकार के ज्यूस, जाम, जेली और उसपर आधारित कई व्यवसाय सब निषेध की कोटि में आ जायेंगे। इस प्रकार बहुत सारे व्यवसाय निषिद्ध कोटि में डालना औचित्यपूर्ण भी नहीं है और व्यावहारिक भी नहीं है। प्रासुक भिक्षा के रूप में भ. ऋषभदेव ने ईख का रस ग्रहण करने की विधि ग्रन्थों में विणित है। अगर ईख का रस स्वीकार्य है तो उसपर आधारित व्यवसाय निषिद्ध मानना तर्कसंगत नहीं है।

इसी प्रकार 'दवग्गिदावणया' का समावेश 'इंगालकम्म' और 'वणकम्म' में हो सकता है।

'साडीकम्म' को अगर आधुनिक पिरप्रेक्ष्य से देखा जाए तो उसमें सभी
प्रकार के वाहन बनाने का समावेश किया जा सकता है। पुराने जमाने
में शायद वाहनप्रयोग से होनेवाली हिंसा का जिक्र करके वाहनप्रयोग
का निषेध किया होगा।

लेकिन पुराने जमाने से ही जैन श्रावको के दूर दूर के देशों में जाकर व्यापार करने के वर्णन आगमों में पाये जाते हैं। इसलिए शकटकर्म का निषेध करना भी तर्कसंगत नहीं है।

- वाहन, मकान आदि भाडे से देने का व्यवहार पुराने जमाने से ही जैनों
 में प्रचलित है। तथा पैसे ब्याजपर देने का जैन समाज का पीढीजात
 धन्धा है। इस परिस्थिति में 'भाटीकर्म' को निषिद्ध व्यवसाय मानना
 भी तर्कसंगत नहीं है।
- श्रावक स्वदारसन्तोषव्रत का पालन करता है इसलिए वेश्याव्यवसाय

का उसके लिए निषेध करना तर्कसंगत लगता है। श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्र में शुक, सारिका, कुक्कुट, मयूर, श्वान आदि का घर में पोषण न करने का विधान इसी कर्मादान के अन्तर्गत किया है। आज भी कुक्कुटपालन, मत्स्यपालन, अश्वपालन आदि व्यवसाय सामान्यत: जैनियों द्वारा नहीं किये जाते तथा घर में भी तोता, बिल्ली, कुत्ता आदि पालने की प्रथा कम है। तिर्यंचयोनिक जीवों को बन्धन में न डालने का संकेत जो इस कर्मादान में निहित है उसीके प्रभाव से जैन आचार में इस प्रकार के तिर्यंचों का पालन नहीं अपनाया होगा।

दिगम्बर ग्रन्थों में पन्द्रह कर्मादानों की परिगणना का अभाव :

अर्धमागधी या जैन माहाराष्ट्री भाषा में लिखे हुए श्वेताम्बर ग्रन्थों की तुलना से दिगम्बर ग्रन्थों में श्रावकाचार के ऊपर ज्यादा मात्रा में ग्रन्थ उपलब्ध हैं। वसुनन्दि श्रावकाचार का अपवाद छोडकर प्रायः सभी ग्रन्थ संस्कृत में हैं। रत्नकरण्डश्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, यशस्तिलकचम्पू, अमितगति-श्रावकाचार, सागारधर्मामृत, धर्मसंग्रह, श्रावकाचार, लाटीसंहिता, आदि ग्रन्थों के निरीक्षण के बाद यह तथ्य सामने आया की उनमें पन्द्रह कर्मादानों या निषद्ध व्यवसायों की गिनती कहीं भी प्रस्तुत नहीं की गयी है। सागारधर्मामृत ग्रन्थ में पन्द्रह कर्मादानविषयक उल्लेख निम्न प्रकार से है-

इति केचिन्न तच्चारु लोके सावद्यकर्मणाम् । अगण्यत्वात्प्रणेयं वा तदप्यतिजडान् प्रति ॥^{१२}

लाटीसंहिता में अहिंसा अणुव्रतधारक श्रावकों को कौनसे व्यवसाय टालने चाहिए इसका दिग्दर्शन किया है। फिर भी श्वेताम्बर साहित्य की तरह पन्द्रह कर्मादानों की गणना नहीं की है।^{१३}

दिगम्बर श्रावकाचार में अहिंसा अणुव्रत के पालन के लिए हिंसा-अहिंसा का विचार, आरम्भी हिंसा, उद्योगी हिंसा, संकल्पी हिंसा और विरोधी हिंसा इस रूप में किया गया है। उपजीविका के लिए गृहस्थ को उद्योग, व्यवसाय अपनाने होते हैं। खेती, दुकान, मकान आदि में हिंसा तो है ही, लेकिन जीवनावश्यक हिंसा को छोडकर बिना प्रयोजन हिंसा का त्याग गृहस्थ के लिए आवश्यक माना है। १४ दिगम्बर श्रावकाचार में प्रतिमाओं को केन्द्रस्थान में रखकर श्रावकाचार का प्रतिपादन किया गया है। उसमें स्पष्टतः कहा गया है कि, आरम्भत्याग-प्रतिमाधारी श्रावक ने सेवा, कृषि, वाणिज्य आदि घरसम्बन्धी सम्पूर्ण आरम्भ का त्याग करना चाहिए। दसवीं प्रतिधारक श्रावक किसी भी प्रकार के आरम्भकार्य के लिए अनुमति नहीं दर्शाता।१५

श्रावक जब अपनी आध्यात्मिक प्रगति की ओर ध्यान देकर उत्तरोत्तर आदर्शभूत आचार की तरफ बढता है तब किसी भी प्रकार के व्यवसाय का उसके लिए निषिद्ध होना बिल्कुल तर्कसंगत है।

सागारधर्मामृत के अनुसार दर्शनप्रतिमाधारी श्रावक के लिए कहा है कि अष्टमूलगुणों को निर्मल करने के लिए श्रावक मद्य, मांस, मधु और मक्खन आदि का त्याग करें, उसका क्रय-विक्रय न करें तथा इन व्यापारों को अनुमित भी न दे। १६ जिन चीजों का श्रावक के लिए त्याग कहा है, उन चीजों के व्यापार का निषेध करना तर्कसंगत ही है।

उपसंहार और निष्कर्ष :

श्वेताम्बरों के पन्द्रह कर्मादान याने विशिष्ट व्यवसायों के निषेध किस प्रकार तर्कसंगत नहीं है, यह इसके पहले इसी शोधलेख में बताया ही है। बहुत सारी तार्किक विसंगतियाँ होने के कारण शायद दिगम्बरों ने सामान्य श्रावक के लिए पन्द्रह कर्मादानों का निषेध नहीं प्रतिपादित किया होगा। दिगम्बर और श्वेताम्बरों के बहुत सारे भेद अभ्यासकों ने प्रस्तुत किए है। उनमें पन्द्रह कर्मादानों का यह मुद्दा भी लक्षणीय है। जिज्ञासु इस पर अधिक गौर करें।

प्रत्येक धर्म के दो अंश होते हैं। जो तत्त्वाधार अंश होते हैं वे धर्म के केन्द्रस्थान में रहते हैं और वे त्रिकालाबाधित होते हैं। जो आचारात्मक या कर्मकाण्डात्मक होते हैं वे बाह्य अंश होते हैं, वे कालसापेक्ष तथा परिवर्तनशील होते हैं। आचारांग के समय पन्द्रह कर्मादानों की संकल्पना नहीं दिखायी देती है। मध्ययुगीन सदियों में ब्राह्मणधर्म के प्रभाव से व्यवसायों की ओर उच्चनीचता की दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति बढ गयी। काल के परिवर्तन के साथ समाज में परिवर्तन हुए। जब जाति-जातियों में उच्चनीचता

नहीं रही तब व्यवसायों में भी नहीं रही । इसिलए इन कर्मादानों में से जो व्यवसाय आधुनिक सामाजिक मान्यताओं से मेल नहीं खाते उनको निषिद्ध मानना तर्कसंगत नहीं है । इसी वजह से दिगम्बरीयों ने इस कल्पना को कभी ज्यादा महत्त्व नहीं दिया है ।

इन निषिद्ध व्यवसायों का स्वरूप देखकर हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि इनमें से ज्यादातर व्यवसाय प्रत्यक्ष व्यवहार में, पुराने जमाने में भी निषिद्ध नहीं थे, आज भी निषिद्ध नहीं है और भविष्यकाल में तो बिल्कुल निषिद्ध नहीं होंगे।

मंदिरमार्गी, स्थानकवासी और तेरापंथी जैनियों में दैनन्दिन रूप में पन्द्रह कर्मादानों की गिनती रटने का जो परिपाठ है, उसकी चिकित्सक दृष्टि से समीक्षा होनी चाहिए। इसी उद्देश से यह शोधनिबन्ध लिखा है।

सन्दर्भ

- १. भगवती ८.५.१३ (८.२४२)
- २. उपासकदशासूत्र ५१
- ३. आवश्यकसूत्र ७९ (२)
- ४. श्रावकप्रज्ञप्ति पृ. २८८; श्रावकधर्मविधिप्रकरणम् पृ. ८२
- ५. श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्र पृ. १२१ अ- १२२ ब
- ६. भगवतीटीका पु. ३७२ ब ७-९
- ७. भगवती ८.५.१३ (८.२४२)
- ८. श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्र पृ. १२१ अ १२२ ब
- ९. उपासकदशा-सप्तम अध्ययन
- १०. आचारांग २.२.३६
- ११. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान पृ. २८४
- १२. सागारधर्मामृत अध्याय ५-श्लोक २३
- १३. लाटीसंहिता सर्ग ४- श्लोक १७७-१८३
- १४. जैन ज्ञानकोश खंड ४ पृ. ४३७
- १५. वसुनन्दि-श्रावकाचार गाथा २९८. गाथा ३००
- १६. सागारधर्मामृत अध्याय ३- श्लोक ९

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूचि

- आचारांग (आयार): अंगसुत्ताणि १, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान),
 वि.सं. २०३१
- २. आवश्यकसूत्र (आवस्सयसुत्तं) : महावीर जैन विद्यालय, मुंबई, १९७७
- उपासकदशा (उवासगदसा): अंगसुत्ताणि ३, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान), वि.सं. २०३१
- ४. जैन ज्ञानकोश (भाग-४) : सं. अज्ञात, मातोश्री चतुरबाई जैन ग्रन्थमाला ट्रस्ट, औरंगाबाद, वि.सं. २०४०
- ५. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र : उमास्वाति, स्वोपज्ञभाष्यसहित, सिद्धेसनगणिकृत टीका, दे.ला.जै.पु., सूरत, १९३०
- ६. भगवती (भगवई) : अंगसुत्ताणि २, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान),वि.सं. २०३१
- ७. भगवतीसूत्रटीका : अभयदेवसूरि, आगमोदय समिति, रतलाम, निर्णयसागर प्रेस, मुंबई, १९१९
- भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान : सं. डॉ. हीरालाल जैन,
 भोपाल, १९६२
- ९. श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रम् : रत्नशेखरसूरिकृत टीकासहित, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, मुंबई, १९१९
- १०. श्रावकधर्मविधिप्रकरणम् : हरिभद्रसूरि, सं. चतुरविजयमुनि, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९२४
- ११. श्रावकप्रज्ञप्ति (सावयपण्णत्ति) : हरिभद्रसूरि, सं. बालचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९८१
- १२. श्रावकाचार संग्रह : (खंड १ से ४) सं. पं. हीरालाल सिद्धान्तालंकार, फलटण, १९७६

गीतगोविंद हौर्सिग सोसायटी, 'बी' बिल्डींग, 559/A-5 महर्षिनगर, पुणे-411037 फोन: (020) 24260663

सुश्री कौमुदी बलदोटा का शोधपत्र जैत श्रावकाचाव में पद्धह कर्मादात : एक समीक्षा इस पर कुछ विचाव

मुनि कल्याणकीर्तिविजय

जैन शासन या जैन परम्परा में अहिंसा का सबसे ज्यादा महत्त्व है। जैनों के सब व्रत-पच्चक्खाण-नियम आदि का एक ही उद्देश्य है - अहिंसा-हिंसा से विरति।

हिंसा दो प्रकार की है - स्वरूप हिंसा, अनुबन्ध हिंसा । स्वरूप हिंसा याने दिखने में हिंसा लगे पर परम्परा से हिंसा न हो । अनुबन्ध हिंसा याने दिखने में शायद हिंसा न हो पर परम्परा से वहां हिंसा ही हिंसा हो ।

जैन शास्त्रकारों ने सर्वत्र इस अनुबन्ध हिंसा से ही विरत होने का उपदेश दिया है। शास्त्रों को सुनकर-समझकर-आत्मसात् कर, उन पर चिन्तन-मनन-अनुप्रेक्षादि करने से क्रमशः चित्त की परिणति शुद्ध होती जाती है। जैसे जैसे चित्त शुद्ध होता है वैसे वैसे व्यक्ति का-व्यक्तित्व का परिवर्तन होता है; पाप छूटने लगते हैं, दोष कम होते हैं, क्षमा-दयादि गुणों का विकास होता है और व्यक्ति हिंसा-अनुबन्ध हिंसा को समझकर उसका त्याग करता हुआ - अहिंसक बनता हुआ क्रमशः सर्वथा अहिंसक बन जाता है।

इसलिए शास्त्रकारों ने जहां-जहां जिस किसी भी क्रिया में हिंसादि दोष देखें उन सब को त्यागने का – उन क्रियाओं से विरत होने का उपदेश दिया। और इस कार्य में उन्होंनें जहां से – कोई भी धर्म-दर्शन से – जो कुछ अच्छा व उचित लगा वह सब स्वीकारा और उनका आधार लेकर जैन शास्त्रों में भी उपदेश दिया।

अतः ऐसा कहीं देखा जाए तो उस पर अन्यान्य दर्शन-परम्परा का प्रभाव है और इसलिए वह ग्राह्म नहीं - इत्यादि कहना उचित नहीं है। प्रभाव अवश्य है पर वह अनुचित वस्तुओं का नहीं है। और अच्छी बात

जहां से मिले वहां से उसका ग्रहण करना चाहिए । उसे निज जीवन में व्यापृत करना चाहिए । शास्त्रकारों ने यही किया है ।

यदि गौरपूर्वक दर्शनों का व शास्त्रों का अध्ययन किया जाए तो स्पष्टतया दिखता है कि प्राय: सभी परम्पराओं की असर एक-दूसरें पे है। हमारी जैन परम्परा का मुख्य उद्देश्य-ध्येय अहिंसा है। वह जहां से भी सिद्ध हो हमें उसका स्वीकार करना ही चाहिए।

पन्द्रह कर्मादान भी हिंसास्वरूप ही है । उनसे बचना-उनका त्याग करना अहिंसा है । और हमारा लक्ष्य तो अहिंसा ही है ।

- कुलपरम्परा से जो लोग इन्हीं में से कोई व्यवसाय करते रहे हो तो इसका मतलब यह कैसे हो सकता है कि वह व्यवसाय अनिषिद्ध व मान्य है? वह व्यवसाय अनुचित ही है। उसे त्यागना ही चाहिए।
- चीजों का इस्तेमाल करना और उनका व्यवसाय करना इन दोनों में बहोत फर्क है। कोई व्यक्ति घी-तेल-कोयला आदि का इस्तेमाल करती है तो वह अपने लिए / घर के लिए अल्प मात्रा में कुछ लाती है। उससे हिंसा होने का सम्भव भी अल्प है। जब कि उसका व्यवसाय करने में वह मात्रा कई गुना बढ जाती है। हिंसा भी बढ जाती है।
 - तो फिर यह कहना कितना उचित होगा कि 'दूसरों द्वारा बनाई गई चोजों का इस्तेमाल हम करते हैं तो खुद को इन चीजों के बनाने व बेचने का निषेध तर्कसंगत नहीं लगता' ? ।
 - उदाहरणतया किसी व्याधि आदि के कारण कभी किसी को कोई हिंसा जनित औषध यदि इस्तेमाल करना पडे तो क्या उस औषध का व्यवसाय भी अनिषिद्ध व मान्य हो जाएगा ?।
- भगवान महावीर कुम्हार-लोहार आदि अनेक लोगों के निवासस्थानों में ठहरते थे। और उन्होंने किसी को अपना व्यवसाय त्यागने का उपदेश नहीं दिया यह बात अर्धसत्य है। वास्तव में भगवान के काल में जैन कुल जन्म से जैन बहोत कम थे। भगवान सब वर्ग के लोगों को धर्म का अहिंसा का उपदेश देते थे। उन्हें साधु धर्म / श्रावक धर्म बताते थे। फिर जो कोई व्यक्ति धर्म समझ लेता था वह अपने

आप ही व्रत-नियम की धारणा कर आरम्भ-समारम्भ व. का त्याग कर देता था। आगमों में ऐसे उल्लेख पाए जाते हैं कि श्रावकों ने किस तरह परिग्रह-आरम्भादि का त्याग कर व्रत ग्रहण किए थे।

भगवान के पश्चात् काल में जब जैन कुल बढ़ने लगे तो उन्हें कर्मादानों के त्याग का उपदेश देना आसान था क्योंकि वे जन्म से ही जैन थे - अहिंसा को समझते थे। फलत: उपदेश पाकर कर्मादानों का त्याग कर देते थे। इसलिए - भगवान महावीर के जीवनकाल में पन्द्रह कर्मादानों की मान्यता प्रचलित नहीं थी - ऐसा कहना उचित नहीं है।

 अतिचार के सन्दर्भ में यह समझना जरूरी है कि – सामायिकादि व्रत में लगे अतिचारों का प्रतिक्रमण कर देने से हम दोषों से निवृत्त हो सकते हैं – लेकिन किन दोषों से ? – जो दोष अनाभोग से – अनजाने में हुआ हो उसी दोष से निवृत्त हो सकते हैं । जो दोष जानबूझकर किया गया हो उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती, वह तो व्रतभंग ही है । उसका तो प्रायश्चित ही लेना पडता है ।

उसी तरह कर्मादानों के विषय में भी - व्रत लिए हुए किसी व्यक्ति ने अपनी मित से उसका अर्थघटन कर कर्मादानों का सेवन कर दिया -अर्थात् अतिचार लगा दिया तो उसका शोधन प्रतिक्रमण से हो सकता है - वह भी तब - यदि वह प्रतिक्रमण करने के बाद फिर से उसी दोष का सेवन न करे।

यदि कोई जानबूझकर कर्मादानों का सेवन करता हो तो वह उसका व्रतभंग ही है। उसकी निवृत्ति प्रतिक्रमण से नहीं हो सकती।

दुसरी बात यह समझने योग्य है कि – जो व्यक्ति अपना पीढियों से चलता व्यवसाय न छोड पाए – वह भी यदि रोज़ रोज़ प्रतिक्रमण करता रहे तो उसके चित्त में यह परिणित बनती जाएगी कि – मैं जो कर रहा हुं वह गलत है – मुझे उसे छोडना चाहिए। ऐसे एक दिन उसका चित्त हढ हो जाएगा तब वह अवश्य उस व्यवसाय हो छोड देगा। इसलिए – बहुत सारे कर्मादानों को अतिचार के रूप में लेने से अडचनें पैदा होती है – उन्हें सुलझाने का दिग्दर्शन श्रावकाचार से नहीं मिलता, ऐसा

कहना योग्य नहीं है।

जैन समाज पर हिन्दु धर्म का प्रभाव बढता गया, और इसी कारण से जैन परम्परा ने इन व्यवसायों का निषेध किया - ऐसा जो कहा गया उसमें यह कहना है कि - प्रत्येक समाज-धर्म का प्रभाव परस्पर पडता ही है। समाज की व्यवस्था ऐसे ही चलती है। और जैसे जैन धर्म पर हिन्दु धर्म का प्रभाव पडा है वैसे हिन्दुओं पर भी जैनों का प्रभाव पडा ही है। उदा० हिन्दु धर्मियोंने सिदयों से चल रही यज्ञ की हिंसा जैनों के प्रभाव से ही बन्द कर दी - छोड दी।

दूसरी बात यह है कि – ब्राह्मणों ने जिन्हें शूद्रों / अतिशूद्रों के व्यवसाय माने उनको जैन परम्परा ने भी निम्न दर्जे के व्यवसाय समझकर निषेध किया होगा – ऐसी मान्यता सर्वथा तर्कसंगत नहीं है । जैनों की तो एक ही भावना थी और है – जहां जहां जिस किसी भी व्यवसाय में हिंसा हो उसका त्याग करना । उस में उच्च-नीचता देखने की बात तो गौण है। अहिंसा ही जैनों का मुख्य ध्येय था, है और रहेगा । ऐसे लोग भी जैन परम्परा में थे (और है) कि जो ऐसा ही व्यवसाय करते थे जिसमें तिनक भी हिंसा न हो । उदा० पगडियाँ बाँधने का व्यवसाय या पुस्तक लेखन का व्यवसाय।

'जब तक व्यक्तिनिष्ठ और छोटे पैमाने पर ऐसे व्यवसाय चलते थे तब तक उनका निषेध उचित था; आज, उद्योगों के जमाने में यह निषेध योग्य नहीं है - इसिलए आधुनिक पिरप्रेक्ष्य में श्रावकाचार में पन्द्रह कर्मादानों की संकल्पना का औचित्य लुप्तप्राय ही है' - ऐसा कैसे कहा जा सकता है? छोटे पैमाने पर चलते व्यवसायों में भी जब हिंसा निहित है तब उसके उद्योगीकरण में तो कितने आरम्भ-समारम्भ व कितनी हिंसा होगी ? जिसके दिल में धर्म बसा हुआ है ऐसा जैन श्रावक तो हमेशा हिंसक व्यापार को छोडने की ही भावना रखता है। पिरस्थितवश यदि वह उसे सर्वथा त्याग न पाए तो भी उसकी भावना तो उस व्यवसाय को छोडने की ही रहती है। इसिलए आज की पिरस्थित में तो पन्द्रह कर्मादानों का त्याग बहोत ही प्रस्तुत है।

चूंकि गृहस्थ सर्वथा (नव कोटि से) तो आरम्भ का त्याग नहीं कर सकता तथापि कितनेक भंगो से तो वह अवश्य त्याग कर सकता है। शास्त्रों में व्रत-पच्चक्खाण के मूल ४९ भंग (प्रकार) १ काल के, त्रिकाल के १४७ भंग और उत्तर प्रकार तो करोडों बताए हैं। उनमें से श्रावक अपनी शक्ति व भावना के अनुसार कुछ भंगों से तो आरम्भादि का अवश्य त्याग कर सकता है। इसमें त्याग का महत्त्व तो है साथ ही भावना का भी महत्त्व है। जैसे कोई दिरद्र मनुष्य किसी कर्मादान का आचरण निह करते हुए भी त्यागी नहीं कहा जाता, जब कि कोई समझदार मनुष्य अपनी भावना से त्याग करे तो उसका त्याग सफल होता है।

- प्राचीनतम जैन आगमों में गृहस्थ के लिए जो षट्कर्म बताए हैं उनमें असि-मसि-कृषि व. का एवं ७२ कला में जो वाणिज्य कला का उल्लेख है वह, जितनी कम से कम हिंसा हो - इस प्रकार, अपना व परिवार का निर्वाह करने के लिए है, निह कि आरम्भ-समारम्भ बढाने के लिए, और ना ही उनसे हिंसा की छूट मिल जाती है।
 - कलाओं व शिल्पों का शिक्षण लेना-इसका भी मतलब ऐसा नहीं होता कि उन सब का उद्योगों एवं व्यवसायों के लिए उपयोग किया जाय! वे सिर्फ जानने योग्य हैं और विपत्ति में/परिस्थितिवश उनका उपयोग हो सकता है। यूं भी सभी पदार्थ उपादेय नहीं होते पर ज्ञेय तो होते ही हैं।
- श्रावकाचार के प्राय: सभी ग्रन्थों में जहां जहां पन्द्रह कर्मादानों की बात आती है वहां स्पष्ट कहा है कि ये १५ नाम केवल गणना के लिए है, लेकिन उपलक्षण से उनके सदृश / असदृश सब हिंसक-सावद्य-गर्हित व्यापारों को त्यागना ही चाहिए । इसलिए १५ की संख्या को लेकर या अन्योन्याश्रितता बताकर जो विसंगित दिखाई है वह अप्रस्तुत ही है ।
- सात व्यसनों के निषेध में मद्य का निषेध होते हुए भी रसवाणिज्य में मुख्यत: मद्य की गिनती की है इसमें कुछ अटपटा नहीं है। कोई श्रावक ऐसा भी सोचे कि 'मद्य पीने का निषेध है बेचने का तो नहीं है', और वह मद्य का व्यवसाय शुरू कर दे, तो उसे भी रोकने के लिए रसवाणिज्य में उसका निषेध किया है।

- ईख का रस स्वीकार्य है भगवान ने भी लिया था इसका मतलब यह हरिगज़ नहीं कि कोई उसका उद्योगीकरण कर उसे बेचना भी शुरू कर दे। क्योंकि इसमें मुख्य बात हिंसा का – अनन्तर व परम्पर हिंसा का – त्याग करने की है। यह बात यदि लेखिका ने सोची होती तो उन्हें सब कुछ तर्कसंगत दिखाई पडता। इसी तरह वाहन का उपयोग करने से वाहन को बनाने–बेचने की छूट नहीं मिल जाती।
- भाटी कर्म में भी वाहन-पशु व. का भाडे से देने का जो निषेध है उसमें भी मुख्य कारण हिंसा ही है ।
 पैसे ब्याज पर देना- यह यदि नीति से होता है तो प्रस्तुत भी है, पर ऐसे व्यवसाय में नीति कितनी होती है - यह तो जगजाहिर है ।
- मुख्य बात तो यह है कि ऐसे उदाहरणों को देने से ये व्यवसाय उचित/ अनिषिद्ध/अहिंसक नहीं बन जाते । वे अनुचित / निषिद्ध व हिंसक ही हैं ।
- दिगम्बरों ने भले ही १५ कर्मादानों की नाम से गिनती न की हो पर प्रकारान्तर से तो उन्होंने आरम्भ-उद्योंगों का त्याग करने का कहकर यह बात बता ही दी है।

निष्कर्ष:

प्रत्येक धर्म के तत्त्वाधार अंश जैसे त्रिकालाबाधित होते हैं। वैसे आचार के मूल अंश भी सार्वभौम व त्रिकालाबाधित होते हैं। भगवान पतंजिल ने योगसूत्र में कहा है कि -

> अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्य-परिग्रहा यमाः ॥ जाति-देश-काल-समयानवच्छिनाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥

हिंसा तीनों काल में हर जाति-देश-समाज में त्याज्य ही है और अहिंसा ही आदरणीय है - यह तथ्य सर्वथा भूलना नहीं चाहिए । उसे सामाजिक मान्यताओं से कोई वास्ता नहीं है ।

चाहे समाज बदले-जमाना बदले, हिंसा का त्याग तो करना ही होगा, यदि धर्म की भावना है। फलतः हिंसक व्यवसाय हर काल में निषिद्ध थे - हैं और रहेंगे भी। अस्तु॥

मध्यकालीन गुजराती साहित्य : प्रतीक्षा, पडकार अने संप्राप्ति

कान्तिभाई बी. शाह

विवेचन विभागनी आ बेठकमां वक्तव्य माटे निमन्त्रण आपवा बदल परिषदनो आभारी छुं. आ निमन्त्रण मळ्युं त्यारे थोडोक संकोच अनुभवेलो केमके मारुं कार्यक्षेत्र मुख्यत्वे मध्यकालीन गुजराती साहित्यना कृति-संशोधन-सम्पादन के तद्विषयक ग्रन्थसमीक्षाओ पूरतुं सीमित गणाय. पण मन्त्रीष्री रितलाल बोरीसागरे मने सिध्यारो आपतां कह्युं के वक्तव्योमां संशोधननी वात थाय ने विषय-वैविध्य जळवाय ओ अभिप्रेत छे ज

वळी, लगभग ओ समयगाळामां, परिषदना विदाय थतां प्रमुखश्री कुमारपाळ देसाईओ 'परब'मां 'प्रमुखश्रीनो पत्र' अन्तर्गत मध्यकालीन कृतिओनां संशोधन–सम्पादन–प्रकाशन परत्वे थती उपेक्षा अंगे चिन्ता प्रगट करेली. ओ वाते मने बळ मळ्युं के आ ज तन्तुने पकडीने मध्यकालीन साहित्यक्षेत्र अंगे थोडीक मारी वात पण उमेरी शकाय.

में मारा वक्तव्यनो विषय राख्यो छे: 'मध्यकालीन गुजराती साहित्य: प्रतीक्षा, पडकार अने संप्राप्ति.' आ विषयना अनुलक्ष्यमां, मारे हाथे संशोधित सम्पादननुं यित्किचित् काम थयुं छे ओ अनुभवभाथाने पण अहीं दृष्टान्त लेखे उपयोगमां लीधुं छे ओटली स्पष्टता करी लउं.

मित्रो, साहित्यजगतमां अेवो सूर ऊठतो संभळाई रह्यो छे के ''मध्यकालीन गुजराती साहित्य हांसियामां धकेलातुं जाय छे, आवी कृतिओनां घणां ओछां सम्पादनो बहार पडे छे, शाळा-महाशाळाना अभ्यासक्रमोमां अेनुं स्थान घटतुं जई रह्युं छे, अध्यापकोमां मध्यकालीन साहित्यना अभ्यास परत्वेनुं वलण ओछुं थतुं जाय छे.'' आ क्षेत्रना तज्ज्ञोनो आ प्रतिभाव छे. ओमां रहेला तथ्यने नकारी के अवगणी शकाय ओम नथी.

अमांये वळी, छेल्ला सवा दायकामां मध्यकालीन गुजराती साहित्यक्षेत्रे संशोधन-सम्पादन-विवेचन अने मार्गदर्शन द्वारा महत्त्वनुं प्रदान करनारा संमान्य

विद्वज्जनो भोगीलाल सांडेसरा, हरिवल्लभ भायाणी, के.का.शास्त्रीजी, जयन्त कोठारी, शिवलाल जेसलपुरा, रमणलाल ची. शाह अने भूपेन्द्र त्रिवेदीनां निधनधी जाणे के आ क्षेत्रे शून्यावकाश सर्जायो होय अवी लागणी अनुभवाय छे. खालीपो अवश्य वरताय, पण अनो झुरापो तो न ज होय. केमके आ अवकाशपूर्तिनो पडकार छेवटे तो आपणे झीलवानो छे.

ताजेतरमां नेशनल मिशन फोर मेन्युस्क्रिप्ट्स, न्यू दिल्हीओ भारत अने भारत बहारनी हस्तप्रतोनुं सर्वेक्षण हाथ धर्युं छे. ते अनुसार भारतमां ४० लाख अने ओ पैकी गुजरातमां १० लाख हस्तप्रतो होवानो अंदाज छे. ओमां जोके संस्कृत-प्राकृतथी मांडी बधी प्रादेशिक भाषाओनी, अनेकविध विषयो धरावती हस्तप्रतोने आवरी लेवाई छे. ओमां मध्यकालीन गुजरातीनी प्रतिओ पण समाविष्ट होय ज. पण आपणने निसबत छे ते अनुसार, हस्तप्रतोना केवळ सर्वेक्षण के केवळ यादीओ आगळ आपणुं काम अटकतुं नथी. आपणुं अन्तिम लक्ष्य तो होय सर्वेक्षण अने यादीओनी चावी द्वारा हस्तप्रतोमां जळवायेलो विपुल साहित्यराशि प्रगट थाय ते. सेंकडो नहीं, हजारोनी संख्यामां मध्यकालीन कृतिओनी हस्तप्रतो हजी विविध भण्डारोना दाबडाओ अने पोटलांओमां बद्ध थयेली छे. ओ सौने आपणी प्रतीक्षा छे; आपणा थकी प्रागट्यना अंजवासनी ओमने झंखना छे.

पण हस्तप्रत-सम्पादन ओ केवळ ओक कागळ परथी बीजा कागळ परनुं लिप्यन्तर मात्र नथी. आ प्रक्रिया पूरी सज्जता अने क्षमता मागी ले छे. वाचना माटे हस्तप्रत-पसंदगी, लिपिवाचन, तत्कालीन भाषास्वरूपनी जाणकारी, पाठिनिर्धारण, अन्य प्रतोने आधारे पाठपसंदगी- आ प्रक्रियामां सम्पादननी ओक चोक्कस शिस्तने अनुसरवानुं होय छे. हस्तप्रतना लेखनकार (लिहया) द्वारा ज थयेली पाठभ्रष्टता ओमां मोटो अन्तराय होय छे जेनी शुद्धि माटे क्यारेक ओ ज कृतिनी अन्य प्रतोनो आधार सहायक नीवडे छे. केमके संशोधके छेवटे तो कृतिना मूळ सर्जकनी निकट पहोंचवानुं छे. उदाहरण तरीके 'गुणरत्नाकर-छन्द'मां 'भमुह-कमांणि' (आंखनी भ्रमररूपी कमान) ने बदले केटलीक प्रतो 'भमुह-कामिनी' पाठ ज आपती हती, जे अशुद्ध छे अने अर्थभेद ऊभो करे छे. भायाणी साहेबे कह्युं छे के ''सवाल हस्तप्रत छापीने सुलभ करवानो

छे ओ करतां ओमने प्रमाणभूत करवानो वधु छे.''

समयांतरे लखायेली हस्तप्रतोमां पार विनाना जोवा मळता उच्चारभेदोने पाठान्तरमां नजरअंदाज करवा पडे छे. छतां बहारथी सामान्य जणातो उच्चारभेद क्यारेक शब्दसन्दर्भ ज नहीं, आखुं संवेदनविश्व बदली नाखतो होय तो काळजीपूर्वक अेनी नोंध लेवी आवश्यक बने छे.

'गुणरत्नाकरछन्द'मां कोशा गणिका युवान स्थूलिभद्रने प्रथमवार निहाळ्तां ज ओना प्रत्ये स्नेहासक्त बने छे. त्यारे केटलीक प्रतोमां ओनो मनोभाव आ रीते नोंधायो छे-'गणिकाभव स्या मांहि ?' ज्यारे वाचनास्वीकृत प्रतमां ओ 'गणिकाभाव स्या मांहि ?' ओम मळे छे. 'अ' अने 'आ' वच्चेनो आ भेद कोशाना भावविश्वने केटलुं पलटी नाखे छे. हवे गणिकाभाव नहीं; प्रीतिभाव – आ संक्रमण ओना व्यक्तित्वने नवो ओप आपे छे.

हस्तप्रत-सम्पादनमां केवळ उच्चार ज नहीं, शब्दपर्याय, छन्द-बंधारण, प्रास, काव्यसौन्दर्य वगेरे पण पाठपसंदगीनो आधार बनी रहे छे.

मध्यकालीन गुजराती साहित्यमां पद्यसाहित्यनी तुलनाओ गद्यसाहित्यनुं प्रमाण घणुं अल्प छे. अमां बालावबोधो, गद्यकथाओ, वर्णको, पट्टाविलओ, प्रश्नोत्तरी, औक्तिको, विज्ञप्तिपत्रो वगेरेनो समावेश थाय. पण ओ सहुमां बालावबोधो अने ते अन्तर्गत प्राप्त गद्यकथाओ मध्यकालीन गद्यसाहित्यनो घणो मोटो हिस्सो छे. आ बालावबोधोनां संशोधन-अभ्यास परत्वे विशेष ध्यान केन्द्रित करवा जेवुं छे. 'जैन गूर्जर किवओ' (द्वितीय आवृत्ति)मां नोंधायेला बालावबोधोनी संख्या लगभग ओक हजारे पहोंचवा जाय छे. जेमां प्रकाशित बालावबोधोनी संख्या ३० थी वधारे नथी. ओ रीते हजी आ क्षेत्रमां केटलुं जंगी काम बाकी छे ओनी सहेजे कल्पना करी शकाशे. जोके मोटा भागना बालावबोधो अज्ञातकर्तृक दर्शावाया छे, अने कोई एक ज ग्रन्थ उपर अनेकने हाथे ओ रचायेला छे.

आ बालावबोधो तत्कालीन भाषास्वरूपना अभ्यास माटे पण घणा महत्त्वना छे. पद्यनी भाषा अेना छन्दोलयने कारणे साहजिकतानी भोंथी ओछेवत्ते अंशे पण ऊंचकायेली होय छे; ज्यारे बालावबोधोना गद्यमां भाषा अेनुं साहजिक स्वरूप जाळवी राखे छे. बालावबोध अन्तर्गत दृष्टान्तकथाओमां तळपदा

शब्दोनो वैभव अने बोलचालनी लढणो धरावतुं गद्य वास्तविकतानी विशेष नजीकनुं होईने जीवंत लागे छे. कथामां क्यारेक आवतां क्रियापद विनानां टचुकडां वाक्योने लीधे लाघवयुक्त गद्याभिव्यक्ति पण सविशेष ध्यान खेंचे छे. जेमके-

''गांधार देश. सबल राजा. तेहनई शकुनि बेटु. गांधारी प्रमुख आठ बेटी. पणि आठइ अपछरा–समांना.

धर्मदासगणिकृत प्राकृतमां ५४४ गाथामां रचायेल 'उपदेशमाला' ग्रन्थ परनो सोमसुन्दरसूरिकृत 'उपदेशमाला बालावबोध' गुजराती भाषामां अ विषय परनो सौथी जूनो बालावबोध. आ बालावबोधनी रचना संवत १४८५ नी छे. अना सम्पादनमां वाचना माटे जे हस्तप्रतने में उपयोगमां लीधी ते संवत १४९९ ना लेखनवर्षनी छे. आम ग्रन्थरचना अने हस्तप्रतलेखन वच्चे केवळ १४ वर्षनो ज तफावत. आथी स्वाभाविक रीते ज ग्रन्थरचना–समयनुं ज भाषाकीय माळखुं ओमां यथातथ जळवाई रह्युं छे. कर्मार्थे 'ने' अनुगने स्थाने तत्कालीन 'हुइं' प्रत्यय अहीं प्रचुर मात्रामां प्रयोजायेलो देखाय छे.

बालावबोधकार अहीं प्रत्येक गाथानो क्रमश: आंशिक निर्देश करता जई, अना शब्दपर्यायो आपता जई, कथ्य विषयनो तत्कालीन भाषामां विशदपणे अवबोध थाय ते रीते अनुवाद अने खपजोगो विवरण-विस्तार करी आपे छे.

पण अहीं आ बालावबोधनी धर्मोपदेशना ग्रन्थ लेखे मारे वात करवी नथी. आ अप्रगट ग्रन्थ प्रकाशित थतां साहित्यदृष्टिओ ओनी संप्राप्ति हती ओ तो ओमां मळती लगभग ८० जेटली नानीमोटी दृष्टान्तकथाओ. मोटा भागनी आ कथाओ गाथा-विवरणना छेडे अलग कथारूपे रजू थई छे. ओमां मुनिमहात्माओ, चक्रवर्तीओ, सती स्त्रीओ, राजाओ, मन्त्रीओ, श्रेष्ठिओ आदिनां चिरित्रात्मक कथानको छे. आ उपरांत मनुष्येतर देवो अने पशु-पंखीओनी कथाओ, रूपककथाओ अने समस्याना तत्त्ववाळी कथा पण मळे छे. अंगत स्वजन ज स्वजननो केवो अनर्थ करे ओवां दृष्टान्तोनुं तो आखुं कथागुच्छ अहीं प्राप्त थाय छे, जेमां माता पुत्रनो, पुत्र पितानो, पिता पुत्रनो, भाई भाईनो, पत्नी पितनो, मित्र मित्रनो अनर्थ करे छे.

आ ज रीते मेरुसुन्दरना 'शीलोपदेश बालावबोध'मां ४३ कथाओ प्राप्त

थाय छे. आम बालावबोधकारोओ संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थोना अनुवादोने दृष्टान्त-कथाओथी पुष्ट कर्या छे अने ओ रीते ओ कथाकोश पण बन्या छे. जोके बधा ज बालावबोधोमां आवी दृष्टान्तकथाओ प्राप्य नथी होती. जेमके सोमसुन्दरसूरि पछी, संवत १५४३मां नन्नसूरिओ आपेलो 'उपदेशमाला बालावबोध' मूळ ग्रन्थनी प्राकृत गाथाओना केवळ अनुवादरूपे ज छे. ओनुं सम्पादन रोमन लिपिमां डो. टी.ओन.दवेओ ई.स. १९३५मां प्रगट करेलुं छे.

के.का.शास्त्रीजीओ ओमनी उत्तरवयमां बालावबोधोनां प्रकाशनो उपर खास भार मूक्यो छे. तेओ लखे छे: ''मारी ओक विनंती छे के कोईपण संस्था, ओ पछी जैन होय के जैनेतर, जेने गुजराती भाषा-साहित्यना प्रकाशननुं ध्येय छे तेणे बालावबोधोना प्रकाशननी ओक योजना विचारवी जोईओ.''

मध्यकाळनी सं. १५७२मां सहजसुन्दरे रचेली, अेक अप्रगट दीर्घकृति 'गुणरत्नाकरछन्द' विशे मारी पीएच.डी.नी थिसिस तैयार करती वेळा 'छन्द' संज्ञावाळी कृतिओ अने अेना स्वरूप प्रत्ये नजर करवानुं बन्युं.

मध्यकाळमां क्वचित् अक्षरमेळ अने बहुधा मात्रामेळ छन्दो तो पद्यवार्ता, प्रबन्ध जेवां स्वरूपोमां प्रयोजाया छे अने रासा, आख्यान जेवां स्वरूपोमां, मूळमां मात्राछन्दोमांथी विकसित थयेली देशीओ अेनुं वाहन बनी छे. आमांथी कोई कोई कृति मुख्यत्वे जे छन्दमां रचाई होय ते चोकस छन्दनामथी पण ओळखाई छे. जेमके 'मारु ढोला चोपइ' के 'माधवानल कामकन्दला दोग्धक.' पण कृतिने मळेली 'छन्द' संज्ञा शानुं सूचन करे छे ?

'छन्द' सम्भवत: चारणी परम्परामांथी आवेलो प्रकार छे. चारणी साहित्यपरम्पराओ अक्षरमेळ-रूपमेळ छन्दो, मात्रामेळ छन्दो तेमज डिंगळ चर्चित छन्दो - ओम त्रण प्रकारना छन्दोनो उपयोग कर्यो छे; जेमां भुजंगप्रयात, पद्धरी, वृद्धनाराच, रोळा, लीलावती, मोतीदाम व. छन्दो उपयोगमां लेवाया छे.

आ परम्परामां कृति पठन रूपे नहीं, पण श्रवणरूपे झीलवानी होई छन्दोगान अेक महत्त्वनुं माध्यम बने छे. कृतिना आ छन्दोगानने पुष्ट करवा माटे चारणी परम्परामां शब्दानुप्रास, अन्त्यानुप्रास, वर्णसगाई, झडझमक, संयुक्ताक्षरी उच्चारणो, रवानुकारी शब्दसंगीत-अेम नादवैभव पर विशेष ध्यान अपाय छे.

'गुणरत्नाकरछन्द'नी रचना अगाउ मध्यकाळमां बे नोंधपात्र 'छन्द'. संज्ञावाळी रचनाओ प्राप्त थई हती. श्रीधर व्यासकृत 'रणमल्लछन्द' सं. १४५४मां; अने लावण्यसमयनी 'रंगरत्नाकर नेमिनाथ छन्द' सं. १५४६मां. आ बन्ने कृतिओ आपणने उपर कहेली वातनुं समर्थन करती देखाशे.

'गुणरत्नाकरछन्द' आ 'छन्द' संज्ञा धरावती दीर्घ रचनाओमां एक विशिष्ट उमेरण छे. जो 'उपदेशमाला बालावबोध'मां मने कथाओनो संपुट सम्प्राप्त थयो, तो आ कृतिनुं संशोधन हाथ उपर लेतां अक काव्यसौन्दर्ये ओपती 'छन्द' कृति सम्पन्न थई. ओमां प्रयोजायेला २० उपरान्त अक्षरमेळ अने मात्रामेळ छन्दो चारणी छन्दोलयनी छटा दाखवे छे. कथाने निमित्ते स्थूलिभद्र-कोशाना हृदयभावोनुं निरूपण कृतिनो विशेष आस्वाद्य अंश रह्यो छे. काव्यस्पर्श पामेलां रिसक गितशील वर्णनो अने ओनी अलंकरण-समृद्धि सर्व कांई मनोहर छे.

लितकोमलकान्त पदाविल तरीके कान्तनी 'स्नेहघन कुसुमवन विमल परिमल गहन' अे पंक्तिने आपणे याद करीओ छीओ. एवी ज पदाविलनुं स्मरण करावती पंक्ति अहीं जुओ:

'नारी-सरोवर सबल सकल मुखकमल मनोहर.'

संयुक्ताक्षरी शब्दावलि, आन्तरप्रास, नादसंगीत द्वारा कोशाना रूपसौन्दर्यना वर्णनमां काव्यना बहिरंगने कवि केवुं सजावे छे ते जुओ:

> ''सुवन्न देह, रूपरेह, कामगेह गज्जओ, उरत्थ हार, हीरचीर, कंचुकी विरज्जओ, कटक्कि-लंकि, झीण वीण, खिंग खिंग दुम्मओ, पयोहराण पक्खि पक्खि लोक लक्ख घुम्मओ.''

गणिका अेक पुरुषिनष्ठ न रहेतां अनेकनी साथे छळ करे छे. अे वात किवओ स्थूलिभद्रने मुखे रात्रिनुं उपमान प्रयोजीने करी छे. ते आखुं कल्पनिचत्र नवीनताभर्युं छे.

> ''सूरिज जव अत्थमई, केश तव मूंकी रोई, जव वेला जेहनी ताम तेहस्यउं मन मोहइ,

फुल्ल तार सिरि घिल्ल रमइ ते चंदा साथइ, सूर समइ जाणेवि, फुल्ल पणि नाखइ हाथइ, इम रयणि कूड बिहुंस्यउं करइ, वेशि कहीं साची नउ हई.'' (२.८३)

[ज्यारे सूर्य आथमे छे त्यारे रात्रि केश छूटा मूकीने रडे छे. पण जेवी जेनी वेळा ओ प्रमाणे तेनी साथे मन जोडे छे. ओ ज रात्रि (चन्द्र आवतां) तारा रूपी पुष्पो माथामां गूंथीने चन्द्रनी साथे क्रीडा करे छे. वळी पाछो सूर्यने आववानो समय थतां रात्रि तारक-पुष्पोने हाथथी नाखी दे छे. आम रात्रि बन्नेनी साथे कपट करे छे. ओ ज रीते वेश्या पण कदी साची होती नथी.]

आपणे त्यां 'छन्द' संज्ञावाळी लघु काव्यकृतिओ पण रचाई छे. ओमां मुख्यत्वे इष्ट देव-देवीनी स्तुति, महिमागान अने रूपगुणवर्णननुं आलेखन थयुं होय छे अने ते कोई ओक सळंग छन्दमां रचायेली होय छे. आवी 'छन्द' स्वरूपी दीर्घ-लघु कृतिओना स्वरूप, विकास, विषयवस्तु अने ओना छन्दो-विधाननी दृष्टिओ सघन अभ्यासने सारो अवकाश छे.

परिषदमां डो. भोगीलाल सांडेसरा स्वाध्यायपीठ अन्वये मारे कोई अक प्रकल्प तैयार करवानो हतो. ते अनुषंगे ला. द. भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिरमांथी मने सं. १६४१मां रचायेली, हरणी मुनिकृत 'विनोदचोत्रीसी' नामक पद्यवार्तानी प्रत मळी आवी. आ साधुकिवनुं तो नाम पण कोई अे जवल्ले सांभळ्युं होय. मात्र 'जैन गूर्जर किवओ' अने 'साहित्यकोश'मां नानकडो उल्लेख मळे. पण कृति हती 'सिंहासन बत्रीसी' के 'सूडाबहोंतेरी'नी जेम अेक कथादोरमां परोवायेली ३४ लौकिक कथाओनी वार्तामाला. अेना शीर्षकमां निर्देशाया प्रमाणे आ बधी हास्य-विनोदे रसायेली जीवनबोधक कथाओ छे. अेक साधुमहात्मा ३४ दिवस सुधी रोज अेकिकी कथा कहीने अेक नास्तिक श्रेष्ठीपुत्रने आस्तिक बनावे छे. कथाओ मौलिक निंह, पण किव द्वारा एने अपायेलो पद्यदेह अे किवनी सर्जकता. आपणा पद्यवार्ता–साहित्यमां हास्यरसिक कथामाला स्वरूपे आ अेक विशिष्ट उमेरण छे. साथे अे पण याद करी लउं के ताजेतरमां ज डो. रमेश शुक्ल द्वारा किव शामळनी 'पन्दरमी विद्या' नामे स्त्रीचरित्रने निरूपती, अद्यापिपर्यन्त अप्रगट अेवी रसिक कथा उपलब्ध

बनी छे.

मध्यकालीन गुजराती साहित्यनी वात करीओ ओटले ओनी साथे सम्बद्ध ओना शब्दकोशनी पण वात करवानी थाय ज. केमके मध्यकालीन शब्दनो अर्थ-सन्दर्भ जाण्या विना ते साहित्यनो अवबोध अपूर्ण रहे. उच्चार के पर्याय दृष्टिओ मध्यकालीन शब्दो आजे अपरिचित बन्या छे. ओक उदाहरण आपुं:

'विनोदचोत्रीसी' मां विरहिणी नायिका कहे छे – ''तेरे बिरह मूं देहं दही, जिउं विन घूंघचीयांइं, आधे जल भइ कोइला, आधे लोही-मांस.''

हवे आ 'घूंघचीया' शब्दनो अर्थ न जाणुं त्यां सुधी अलंकारनुं सौन्दर्य वणप्रगट्युं रहे. पण 'घूंघचीया' अटले 'चणोठी' ओवो अर्थ शब्दकोशमांथी प्राप्त थतां विरहिणीनुं भावचित्र स्पष्ट थयुं के 'तारा विरहमां वननी चणोठीनी जेम मारो अडधो देह बळीने कोलसो थयो छे ने अडधो लोही-मांस ज रह्यो छे.'

मारे मते अक बृहद् मध्यकालीन गुजराती शब्दकोशनी अनिवार्यता छे. जयन्त कोठारीओ आपणने 'मध्यकालीन गुजराती शब्दकोश' आप्यो. पण अनीये मर्यादा ओमणे पोते स्वीकारी छे. ओ संकलित शब्दकोश छे. भायाणी साहेबनुं ओमने ओक सूचन ओ हतुं के मध्यकाळनी कृतिओमांथी सीधा ज शब्दो लेवा. पण स्वास्थ्य-संजोगोने ध्यानमां राखीने ओमणे जे मध्यकालीन कृति-सम्पादनोमां अर्थ सहितना शब्दकोश अपाया होय, अने ते पण स्थान-निर्देश साथेना, ओटला ज शब्दकोशोने आधारे तैयार थयेलो आ शब्दकोश छे. जयन्तभाईओ क्षेत्रमर्यादा तो स्वीकारी, पण त्यांये संशोधननो अतिश्रम तो ओमणे कर्यो ज. मूळ सम्पादके आपेलो खोटो अर्थ छोडीने शुद्ध अर्थ आप्यो, मूळमां शब्द ज भ्रष्ट होय के खोटी रीते पाठ निर्धारित थयो होय तो तेनी पण शुद्धि करी. अने आ बधा माटे चोकस संज्ञाओ पण प्रयोजी. ओमणे पोते निवेदनमां लख्युं के 'कोशनुं काम संकलन करतां वधारे तो संशोधननुं बनी गयुं.'

आवो प्रमाणभूत शब्दकोश मळ्या पछीये काम तो बाकी रहे ज छे.

१. कृति-अन्तर्गत केटलाये शब्दो मूळ् सम्पादके शब्दकोशमां दाखल ज न कर्या होय. (दा.त. 'षडावश्यक बालावबोध' के 'विमलप्रबन्ध'नां सम्पादनो), २. अर्थ के स्थाननिर्देश विनाना शब्दकोशो पैकीना शब्दो, ३. पाछळथी सम्पादित थईने प्रकाशित थयेली कृतिओना शब्दकोशो, ४. जे कृतिओना शब्दकोशो थया ज नथी तेवी कृतिओना शब्दो.

आ काम कोइ संस्था के तज्ज्ञोनी टुकडी ज हाथ धरी शके. कथाकोश थयो, साहित्यकोश थयो, तो आ पडकार पण झीलाशे ने ! ७०० वर्षना गाळानी हजारो कृतिओना शब्दसंचयने भायाणीसाहेबे भगीरथ कार्य कह्युं छे. वळी तेमणे अेवी आशा प्रगट करी छे के ''जयन्तभाईओ जे नानो छोड उछेर्यों छे तेमांथी आगळ जतां वृक्ष बने.''

डों. हरिवल्लभ भायाणी जेना आद्य संस्थापक हता ते 'अनुसन्धान' सामियक अत्यारे आचार्य शीलचन्द्रसूरिजीना सम्पादन हेठळ प्रगट थाय छे. अेनी अत्यार सुधीमां ४१ पुस्तिका प्रकाशित थई चूकी छे. अेमां संस्कृत-प्राकृत तेमज मध्यकालीन गुजरातीनी अप्रगट कृतिओ संशोधित करीने प्रकाशित करवामां आवे छे अने सम्पादित कृतिनी साथे घणुंखरुं शब्दकोश पण जोडायेलो होय छे. हस्तप्रत-सम्पादनना प्रकाशन माटे आ अेक महत्त्वनुं माध्यम छे. पण आ संशोधन-सामियकनी साहित्यजगतमां पर्याप्त नोंध लेवाई नथी अेम मने लागे छे.

अेक काळे आपणे त्यां 'आनन्द काव्य महोदिध' ग्रन्थना आठेक मौक्तिको प्रकाशित थयेलां, जेमां रासा, पद्मवार्ता आदि दीर्घकृतिओ समाविष्ट छे. आ ग्रन्थमौक्तिकोनुं तेमज आवा अन्य ग्रन्थोनुं पाठशुद्धि साथे पुनः सम्पादन करी शकाय.

'साहित्यकोश' खण्ड-१नां अधिकरणो लखातां हतां त्यारे ध्यान उपर आवेलुं के अेक काळे जुदा जुदा सम्पादको द्वारा चौदेक जेटली सज्झायमाळाओ प्रकाशित थई हती. अेमां घणा बधा किवओनी अेकनी अेक कृति बधां सम्पादनोमां जोवा मळे. आवी कृतिओनुं पुनरावर्तन टाळीने अेक संकिलत ग्रंथनुं सम्पादन पण हाथ धरी शकाय. अेम करातां, आ ग्रन्थोनी जर्जरित हालत पण निवारी शकाशे अने 'रिनंग मेटर' रूपे जूनां बीबामां छपायेली आ

कृतिओनो चहेरोमहोरो पण बदलाशे.

साहित्यकोश खण्ड-१नां अधिकरणमां सर्जकनी कृति मुद्रित के अमुद्रित छे तेनो निर्देश करवामां आव्यो छे. कोश प्रकाशित थया पछीना गाळामां अमुद्रित कृति प्रगट थई होय के कोशमां वणनोंधायेली कृति मळी आवी होय तो परिषदे कोशनी ओक अधिकृत नकलमां यथास्थाने ओ फेरफारो नोंधता जई कोशसामग्रीने 'अप-डेट' करता रहेवुं जोइओ. सम्पादक पोते आवी प्रकाशन-माहिती परिषदने पहोंचाडे ओवुं आयोजन पण गोठवी शकाय. आम थाय तो नवी आवृत्ति वेळानुं काम सरळ अने चोकसाईभर्युं बनी शके.

मित्रो, में अहीं नर्रासंह-मीरां के अखो-प्रेमानन्द जेवी मध्यकाळनी सिद्धहस्त सर्जकप्रतिभाओनी वात नथी करी ओ हुं जाणुं छुं. पण मारा वक्तव्यनो मुख्य सूर जे क्षितिजो हजी वणखेडायेली छे ते दिशामां कदम मांडवा अंगेनो छे. जे साहित्यसामग्री धरबायेली पड़ी छे ओने उद्धरवा माटे आपणी प्रतीक्षा छे, अने ओ पडकार आपणी ज युवापेढीओ झीलवानो छे. ओवो विश्वास अवश्य बेसे छे के जे कांई नवुं प्रगट थई रह्युं छे, प्रगटवा मथी रह्युं छे अने हवे पछी प्रगटवानुं छे ओनी संप्राप्ति-उपलब्धि नगण्य निह होय. ओथी ज जयन्त कोठारीओ जेने न वीसरवा जेवो वारसो कह्यो ओवा आ मध्यकालीन गुजराती साहित्यना तन्तुथी आपणे विच्छित्र न थईओ. आपणा प्रजाकीय जीवनना उछेर, घडतर अने विकसनमां ओना थकी थयेला पोषणनुं मूल्य जरीकेय ओछुं न आंकीओ.

[गुजराती साहित्य परिषदना गांधीनगर खाते डिसे. २००७मां योजायेला ४४मा संमेलनमां विवेचन विभागनी बेठकमां अपायेलुं वक्तव्य]

> ७, कृष्ण पार्क, गगनविहार सामे, खानपुर, अमदावाद-१

प्राचीन जैन साहित्यमें आयुर्वेद तथा भगवान् महावीन का गर्भापहन्ण

डा. जगदीशचन्द्र जैन

(भूमिका: स्व. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन प्राकृत साहित्य के जाने-माने विद्वान् थे। उनका यह अप्रकाशित लेख डॉ. मधुसूदन ढांकीने भेजा है। चूंकि इस लेख में एक ऐसा विवादास्पद मुद्दा छेडा गया है कि जिसे छापने से सम्प्रदाय में विरोध हो सकता था, इसलिए पं. दलसुख मालविणया समेत किसी विद्वान्ने इसे प्रकाशित नहीं किया था। लेकिन एक घटनाको लेकर बुद्धिमान् या विचारशील लोग क्या सोच व मान सकते हैं, उसकी जानकारी भी हमें मिलनी तो जरूर चाहिए। इसी आशय से यहां वह लेख यथावत् प्रकाशित किया जा रहा है। मैंने डॉ. ढांकी को कहा कि इसके प्रतिवाद के रूप में मैं मेरा यानी परम्परा का मन्तव्य भी लिखुंगा। उन्होंने प्रेमपूर्वक सहमती दर्शाई कि जरूर लिखें। अतः डॉ. जैन का लेख व उसका प्रतिवाद दोनों यहां प्रस्तुत है। - श्री.)

आयुर्वेद का अर्थ है आयुको जानने वाला शास्त्र, अर्थात् जिस शास्त्र में आयु के सम्बन्ध में विचार किया जाता हो अथवा जिस शास्त्र के द्वारा दीर्घ आयुकी प्राप्ति होती हो, उसे आयुर्वेद कहते है (आयुरिस्मन् विद्यतेऽनेन वा आयुर्विन्दतीत्यायुर्वेद:)। इससे यही सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत के आर्य जीवित रहने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे। 'तू सौ शरद् ऋतुओ तक जीवित रह' (त्वं जीव शरद: शतम्) – ऋग्वेद का यह वाक्य, तथा दीर्घ जीवन की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला आयुष्टोम यज्ञ इस कथन के साक्षी है।

वेदों की संख्या चार है - ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इन चार वेदों के चार उपवेद हैं - ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद (व्यास के चरणव्यूह और शंकर के आयुर्वेद के मतानुसार; जबिक सुश्रुतसंहिता और हस्त्यायुर्वेद में उसे अथर्ववेद का उपवेद कहा है), यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद, सामवेद का उपवेद गान्धर्ववेद और अथर्ववेद का उपवेद स्थापत्यशास्त्रवेद बताया गया है। सुश्रुतसंहिता के आयुर्वेदोत्पत्ति अध्याय में

आयुर्वेद के लिए केवल वेदका प्रयोग करते हुए उसे अनादि और शाश्वत कहा है। कहते हैं कि प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मदेव आयुर्वेद का प्ररूपण करते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व उनके द्वारा १ हजार अध्यायों में १ लाख श्लोको में आयुर्वेद की रचना की हुई बतायी जाती है; तत्पश्चात् मनुष्यों की स्वल्प बुद्धि के अनुसार उन्हों ने इसे आठ भागों में विभक्त किया।

यद्यपि आयुर्वेद को वेदका उपांग माना गया है, लेकिन इस शास्त्र के जीवनोपयोगी होने के कारण वेद की अपेक्षा भी इसका महत्त्व अधिक बताया गया है। सुश्रुत में कहा है कि वेदों का अध्ययन करने से तो केवल स्वर्ग की प्राप्ति आदि परलौकिक फल की ही उपलब्धि होती है, जबिक आयुर्वेद के अभ्यास से धन, मान आदि सांसारिक सुख, तथा व्याधि-पीड़ितों को जीवन-दान देने से स्वर्गप्राप्ति आदि का लाभ भी मिलता है। अष्टांगसंग्रह में इस सम्बन्ध में एक श्लोक है -

> क्वचिद्धर्मः क्वचिन्मित्रं क्वचिदर्थः क्वचिद्यशः । कर्माभ्यासः क्वचिच्चेति चिकित्सा नास्ति निष्फला ॥

- शारीरिक चिकित्सा करने से कहीं धर्म की प्राप्ति होती है, कहीं मित्र की, कहीं धन की कहीं यश की और कहीं स्वकर्म का अभ्यास होता है, अत: चिकित्सा कभी निष्फल नहीं जाती।

व्याधि से पीड़ित रोगियों के रोग को शान्त करना और स्वास्थ्य की रक्षा करना – यह आयुर्वेद का उद्देश्य है। आयुर्वेद के मुख्य दो सम्प्रदाय है – एक कार्यचिकित्सा और दूसरा शल्यचिकित्सा। दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपने-अपने विषय के अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया, लेकिन दुर्भाग्य से इनमें से अधिकांश ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। भगवान् धन्वन्तिर (धन्वं शल्यशास्त्रं तस्य अन्तं पारं इयित गच्छतीति) से महिष सुश्रुतने शल्यप्रधान आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त कर सुश्रुतसंहिता की रचना की थी, शल्यचिकित्सा को आयुर्वेद का मुख्य अंग बताते हुए सुश्रुतसंहिता के सूत्रस्थान में देव और दानवों के युद्ध का उल्लेख किया गया है। कहते हैं कि देव और दानवों के युद्ध में परस्पर के प्रहार से जो योद्धा घायल हुए, उनके घावों की मरहम-पट्टी करने तथा यज्ञ के कटे हुए सिर का सन्धान करने

के कारण शल्यचिकित्सा को आयुर्वेद का मुख्य अंग मान लिया गया। जैनों की आयुर्वेद सम्बन्धी मान्यता

जैन ग्रन्थों में आयुर्वेद (चिकित्साशास्त्र) का महत्त्व प्रतिपादन किया गया है, लेकिन फिर भी आश्चर्य की बात है कि उसकी गणना पापश्रुतों में की हैं । निशीथचूर्णी (१५, पृ. ५१२) में धन्वन्तिर का योगी (आगमोक्त विधि से क्रिया करने वाला; आगमानुसारेण जहुत्तं किरियं करेंतो जोगीव भवति) के रूप में उल्लेख करते हुए कहा है कि अपने विभंगज्ञान द्वारा रोगों का परिचय प्राप्त कर उसने वैद्यकशास्त्र का निर्माण क्षिया, और इस शास्त्र का अध्ययन करने वाले महावैद्य कहलाये।

आयुर्वेद के आठ अंग :

सुश्रुत आदि ब्राह्मण ग्रन्थों की भांति जैनों के स्थानांग सूत्र (८, पृ. ४०४ अ) में आयुर्वेद के निम्नलिखित आठ अंगों का उल्लेख किया गया है— (१) कुमारिभच्च (कौमारिभृत्य; बालकों के पोषण के लिए स्तनपान सम्बन्धी तथा अन्य रोगों की चिकित्सा), (२) सलाग (शालाक्य; कर्ण, मुख, नासिका आदि शरीर के ऊर्ध्वभाग के रोगों की चिकित्सा), (३) सल्लहत्थ (शाल्यहत्य; तृण, काष्ठ, पाषाण, रज:कण, लोहा, मिट्टी, अस्थि, नख आदि शल्यों का उद्धरण), (४) कायितिगिच्छा (कायिचिकित्सा; शरीर सम्बन्धी ज्वर, अतिसार आदि रोगों की चिकित्सा), (५) जंगोली अथवा जंगोल (कौटित्य अर्थशास्त्र में जांगिल; सर्प, कीट, लूता आदि तथा विविध प्रकार के मिश्रित विष की चिकित्सा । सुश्रुत में इसे अगदतन्त्र कहा है), (६) भूयिवज्जा (भूतिवद्या; देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस आदि से पीड़ित चित्तवालों की शान्तिकर्म और, बिलदान आदि द्वारा चिकित्सा), (७) रसायण (रसायन;

उत्पात, निमित्त, मन्त्रशास्त्र, आख्यायिका, चिकित्सा, कलाएँ, आवरण (वास्तुविद्या),
 अज्ञान (महाभारत आदि-टीका), मिथ्याप्रवचन (बुद्धशासन आदि-टीका)- ये
 पापश्रुत हैं, स्थानांग ९.६७८ ।

सुश्रुत के अनुसार ब्रह्माने दक्षप्रजापित को, दक्षप्रजापितने अश्विनीकुमारों को, अश्विनीकुमारोंने इन्द्र को, इन्द्रने धन्वन्तिरको और धन्वन्तिरने सुश्रुत को आयुर्वेद की शिक्षा दी।

तारुण्य की स्थापना तथा आयु और बुद्धि के बढ़ाने और रोग शान्त करने के लिए चिकित्सा), (८) वाजीकरण (अथवा खारतंत = क्षारतन्त्र; अल्पवीर्य, क्षीणवीर्य और शुष्कवीर्य पुरुषों में वीर्य की पुष्टि, वीर्य का उत्पादन और हर्ष उत्पन्न करने का उपाय) ।

रोग और व्याधि

छेदसूत्रों के टीकाकारों ने रोग और व्याधि में अन्तर बताते हुए, अधिक समय तक रहने वाली अथवा बहुत समय में प्राणों का अपहरण करने वाली बीमारी को रोग, तथा प्राणों का शीघ्र अपहरण करने वाली बीमारी को व्याधि कहा है (निशीथभाष्य ११.३६४६-४७)। व्याधि को आतंक भी कहा गया है। सोलह प्रकार के रोग और सोलह प्रकार की व्याधियां बतायी गयी हैं।

आचारांग सूत्र (६.१.१७३ तथा टीका) में सोलह रोगों के नाम निम्न प्रकार हैं - (१) गंडी (गंडमाला; जिस में गर्दन फूल जाती है), (२) कुष्ठ (कोढ़), २ (३) रायंसी (राज्यक्ष्मा = क्षय), (४) अवमारिय (अपस्मार), (५)

- १. सुश्रुतसंहिता (१.१.७) में शल्यतन्त्र, शालाक्यतन्त्र, कायिचिकित्सा, भूतिवद्या, कौभारभृत्य, अगदतन्त्र, रसायनतन्त्र और वाजीकरणतन्त्र - इस क्रम से आठ अंग बताये हैं । इन में कायिचिकित्सा और शल्यतन्त्र को छोड़कर अन्य अंगों के ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है । धन्वन्तिर के समय से ही कायिचिकित्सा को छोड़कर अन्य सम्प्रदाय प्राय: विलुप्त हुए माने जाते हैं ।
- २. कुष्ठ १८ प्रकार का होता है ७ महाकुष्ठ और ११ क्षुद्रकुष्ठ । महाकुष्ठ (अंग्रेजी में लेप्रसी) को शरीर की समस्त धातुओं में प्रवेश करने के कारण असाध्य कहा है। महाकुष्ठ के सात भेद हैं- (१) अरुण (वात के कारण किंचित् रक्तवर्ण, क्षुद्र आकार का, फैलनेवाला, पीड़ा देनेवाला, फटनेवाला और स्पर्श की चेतना से शून्य), (२) औदुम्बर (पित्त के कारण पके गूलर के समान आकृति और वर्णवाला), (३) निश्य (यह पाठ अशुद्ध जान पड़ता है । सुश्रुत में इसे ऋष्यिजक कहा है, अर्थात् ऋष्य नामक हरिण की जीभ के समान खुरजरा), (४) कपाल (काले ठीकरे के समान प्रतीत होनेवाला), (५) काकनाद (सुश्रुत में काकणक; गुंजाफलके समान अत्यन्त रक्त और कृष्णवर्णवाला; काश्यपसंहिता (पृ. ८२) में काकणं), (६) पौण्डरीक (सुश्रुत में पुण्डरीक; कफ के कारण श्वेत कमलपत्र के समान वर्णवाला; काश्यपसंहिता में पौण्डरीक), (७) दद्व (दाद; अतसी के पुष्प के समान नीलवर्ण अथवा ताम्रवर्णवाला, फैलनेवाला; इसमें छोटी-

काणिय (अक्षिरोग), (६) झिमिय (जड़ता), (७) कुणिय (हीनांगत्व), (८) खुज्जिथ (कुबड़ापन), (९) उदररोग, (१०) मूय(गूंगापन), (११) सूणीय (शरीर की सूजन), (१२) गिलासणि (भस्मक), (१३) बेवइ (कंपन), (१४) पीढसप्प (पंगुत्व), (१५) सिलीवय (श्लीपद = फीलपांव), और (१६) मधुमेह ।१

विपाकसूत्र में सोलह व्याधियों के नाम निम्नलिखित हैं – (१) श्वास, (२) कास (खांसी), (३) ज्वर, (४) दाह, (५) कुक्षिशूल, (६) भगंदर, (७) अर्श (बवासीर), (८) अजीर्ण, (९) दृष्टिशूल, (१०) मूर्धशूल, (११)

छोटी फुंसियां उठ आती हैं) ।

११ क्षुद्रकुष्ठों के नाम हैं - (१) स्थूलारुष्क (इसके कारण सन्धियों में अत्यन्त दारुण, स्थूल और कठिन गूमढे हो जाते हैं), (२) महाकुष्ठ (त्वचा में सिकुडन और दरार पड़ जाती है और वह सून्न हो जाती है), (३) एककृष्ठ (शरीर काला स्याह और लाल हो जाता है), (३) चर्मदल (जिस में हाथ-पैर के खाज,पीड़ा,जलन और सूजन हो जाय). (४) परिसर्प (जिसमें स्रवण करनेवाली फुंसियां शरीर में धीरे-धीरे फैलती हों), (५) विसर्प (जिसमें रक्त और मांस को दूषित कर, मूर्च्छा, जलन, अरित और पीड़ा उत्पन्न करके, त्वचा पककर शीघ्र ही चारों और फैल जाये), (६) सिध्म (इस में खाज आती है: यह श्वेत होता है, इस में कष्ट नहीं होता, यह क्षुद्र आकार का होता है, और प्राय: शरीर के ऊर्ध्व भाग में होता है), (७) विचर्चिका अथवा विपादिका (विचर्चिका में हाथों और पांवों में बहुत खाज आती है, पीडा होती है और रूखी-रूखी रेखाएं पड जाती है, यही जब पांवों में पहुंचकर खाज, जलन और वेदना पैदा कर देता है तो इसे विपादिका (विवाई) कहा जाता है). (८) किटिम (यह बहता रहता है, गोलाकार और घन होता है; इस में बहत खाज आती है, यह चिकना और कृष्णवर्ण का होता है), (९) पामा (यह बहता रहता है, इस में खाज और जलन होने से छोटी-छोटी फुंसियां हो जाती हैं। अंग्रेजी में एक्जीमा कहते हैं), (१०) कच्छू (जब पामा में अत्यन्त जलन होने लगती है तो इसे कच्छू कहते हैं), (११) शतारुक, (सुश्रुत में रकसा; जिस में खाज आती हो और फुंसियां न बहती हों; काश्यपसंहिता में शताहष्क.) । तथा देखिए सुश्रुत, निदानस्थान अध्याय ५ ।

तथा देखिए विपाकसूत्र १, पृ. ७; निशीथभाष्य ११.३६४६; उत्तराध्ययनसूत्र १०.२७ ।

अरोचक (भोजन में अरुचि), (१२) अक्षिवेदना, (१३) कर्णवेदना, (१४) कण्डू (खुजली), (१५) जलोदर, (१६) कुष्ठ । अन्य रोगों में दुब्भूय (दुर्भूत = ईति. टिड्डीदलका उपद्रव), कुलरोग, ग्रामरोग, नगररोग, मंडलरोग, शीर्षवेदना, ओष्ठवेदना, नखवेदना, दन्तवेदना, कच्छू, खसर (खसरा), पाण्डुरोग, एक-दो-तीन-चार दिन के अन्तराल से आनेवाला ज्चर, इन्द्रग्रह, धनुर्ग्रह (वायु के कारण शरीर का कुबडा हो जाना), स्कन्दग्रह, कुमारग्रह, यक्षग्रह, भूतग्रह, उद्देग, हृदयशूल, उदरशूल, योनिशूल, महामारी, वल्गुली (जी मचलाना) और विषकुम्भ (फुडिया) आदि का उल्लेख मिलता है ।

रोगों की उत्पत्ति

वैद्यशास्त्र में वात, पित्त और कफ को समस्त रोगों का मूल कारण बताया गया है। स्थानांगसूत्र (९.६६७) में रोगोत्पत्ति के नौ कारण कहे हैं – (१) आवश्यकता से अधिक भोजन करना, (२) अहितकर भोजन करना, (३) आवश्यकता से अधिक सोना, (४) आवश्यकता से अधिक जागरण करना, (५) पुरीष का निरोध करना, (६) मूत्र का निरोध करना, (७) रास्ता चलना, (८) भोजन की प्रतिकूलता और (९) कामविकार। पुरीष के रोकने से मरण, मूत्र के रोकने से दृष्टि की हानि और वमन के रोकने से कोढ़ का होना बताया गया है। (बृहत्कल्पभाष्य ३.४३८०)।

जैनश्रमणों को रोगजन्य संकट

जैन श्रमण संयम का पालन करने के लिए दृढतापूर्वक आहार विहार सम्बन्धी व्रत-नियमों का आचरण करते थे। जैसे गंगा के उलटे स्रोत को पार करना, समुद्र को भुजाओं से तिरना, बालू के ग्रास को भक्षण करना, असि की धार पर चलना, लोहे के चने चबाना, प्रज्वलित अग्नि की शिखा पकड़ना और मन्दार पर्वत को तराजू पर तोलना कठिन है, वैसे ही श्रमणधर्म के आचरण को महादुष्कर बताया है। फिर भी शरीर में उत्पन्न होनेवाली

१. निशीथभाष्य ११.३६४७ में निम्निलिखित आठ व्याधियां बतायी गयी हैज्वर, श्वास, कास, दाह, अतिसार, भगंदर, शूल, अजीर्ण । तथा देखिए
ज्ञातृधर्मकथा १३, पृ. १४४ (वैद्य संस्करण) ।

२. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति २४, पृ. १२०; जीवाभिगम ३, पृ. १५३; त्याख्याप्रज्ञप्ति ३.६।

व्याधियों को कैसे रोका जा सकता था ? सामान्यतया व्याधिग्रस्त हो जाने पर जैन साधु को चिकित्सा कराने और औषधि-सेवन करने का निषेध है, और जैसे भी हो सर्वत्र संयम की प्रतिष्ठा का ही उपदेश दिया गया है। लेकिन कितने ही प्रसंग ऐसे उपस्थित होते, जबिक संयम की अपेक्षा अपनी रक्षा करना अधिक आवश्यक हो जाता (सव्वत्थ संजमं संजमाओ अप्पाणमेव रक्खंतो-निशीथचूर्णी, पीठिका ४५१)। बृहत्कल्पभाष्य की वृत्ति (१.२९००) में कहा है-

शरीरं धर्मसंयुक्तं रक्षणीयं प्रयत्नतः । शरीराच्छ्रवते धर्मः पर्वतात् सलिलं यथा ॥

- जैसे पर्वत से जल प्रवाहित होता है, वैसे ही शरीर से धर्म प्रवाहित होता है, अत एव धर्मयुक्त शरीर की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए।

व्याधियों का उपचार

कहना न होगा कि किसी असाधारण रोग या व्याधि से पीड़ित होने पर साधुओं को चिकित्सा कराने के लिए बाध्य होना पड़ता था। उदाहरण के लिए, कोढ़ हो जाने पर जैन श्रमणों को दारुण कष्ट का सामना करना पड़ता। यदि उन्हें गला हुआ कोढ़ हो जाता, उनके खुजली (कच्छू) हो जाती, उनके कोढ़ में खाज (किटिभ) आने लगती, या जूंए पैदा हो जाती तो उन्हें निर्लोम चर्म पर लिटाया जाता (बृहत्कल्पभाष्य ३.३८३९-४०)। यदि वे एक्ज़ीमा(पामा) से पीड़ित रहते तो उसे शान्त करने के लिए मेढ़े की पुरीष और गोमूत्र काम में लिया जाता (ओघनिर्युक्ति ३६८, पृ. १३४-अ)। यदि उनके कोढ़ में कीड़े (कृमिकुष्ठ) पड़ जाते तो उन्हें और भी भयंकर कष्ट होता। एक बार किसी साधु के कृमिकुष्ठ द्वारा पीड़ित होने पर वैद्यने तेल, कम्बलरल और गोशीर्ष चन्दन (एकप्रकार का सफेद चन्दन) का उपचार बताया। लेकिन ये तीनों वस्तुएं मिलें कहां से ? अन्त में किसी विणक् ने बिना मोल के ही कम्बल और चन्दन दे दिये। साधु के शरीर में

श. अन्य तेलों में शतपाकतेल, हंसतेल, मरुतेल और कल्याणघृतका उल्लेख मिलता है, जगदीशचन्द्र जैन, ''जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज'', पृ. ३१६; अंगविज्जा, अध्याय ५० ।

शतसहस्रतेल⁸ (शतसहस्र औषिधयों को पकाकर बनाया हुआ तेल) की मालिश की गयी जिससे तेल रोम-कूपों में भर गया । परिणाम यह हुआ कि कुष्ठ के कृमि संक्षुब्ध होकर झड़ने लगे । ऊपर से साधु को कम्बल उढ़ा दिया गया जिससे सब कृमि कम्बल पर लग गये । बाद में गोशीर्षचन्दन का लेप करने से रोगी का कोढ़ शान्त हो गया ।⁸

सर्पदंष्ट भी इसी प्रकार की घातक बीमारी समझी जाती थी। उन दिनों सर्पों का बहुत उपद्रव था, इसिलए यदि कभी किसी साधु को सर्प काट लेता, उसे हैजा (विसूचिका) हो जाता या वह ज्वर से पीड़ित होता तो उसके लिए साध्वीके मूत्रपान का विधान है। सर्पदंश पर मन्त्र पढ़कर अष्टधातु के बने हुए बाले (कटक) बांध दिये जाते या मुंह में मिट्टी भरकर सर्प के डंक को चूस लिया जाता, या दंश के चारों ओर मिट्टी का लेप कर देते, नहीं तो रोगी को मिट्टी का भक्षण कराया जाता जिससे कि खाली पेट में विष का असर न हो। कभी सर्प से दष्ट स्थानको आगसे दाग देते, या उस स्थान को काट देते, या रोगी को रातभर जगाये रखते। बमी की मिट्टी, लवण और सेचन आदि को भी सर्पदंश में उपयोगी बताया गया है। सर्प का जहर शान्त करने के लिए रोगी को सुवर्ण घिसकर भी पिलाया जाता था। ध

भूत आदि द्वारा क्षिप्तचित्त हो जाने के कारण साधुओं की चिकित्सा करने में बड़ी कठिनाई होती थी। ऐसी अवस्था में उन्हें कोमल बन्धनसे बांधकर रक्खा जाता, और कितनी ही बार स्थान के अभाव में उन्हें कुएं

१. आवश्यकचूर्णी, पृ. १३३ ।

विनयपिटकके भैषज्यस्कन्ध में यह विधान है। तथा औषिध के रूप में मूत्रग्रहण के लिए देखिए सुश्रुत, सूत्रस्थान ४५.२१७-२२९।

३. निशीथभाष्य पीठिका १७० । सर्पदंश की चिकित्सा के लिए देखिए महावग्ग ६.२.९, पृ. २२४ (भिक्षु जगदीश काश्यपका संस्करण) ।

४. निशीथभाष्य पीठिका २३०. ५. वही ३९४।

६. व्यवहारभाष्य ५.८९ । ७. वही २.१२२-२५ ।

८. बृहत्कल्पभाष्य ६.६२६२; तथा चरकसंहिता, शरीरस्थान २, अध्याय ९, पृ. १०८८ (भास्कर गोविंद घाणेकर का संस्करण) ।

के अन्दर रखवा दिया जाता । सिध्वी के यक्षाविष्ट हो जाने पर भूतिचिकित्सा का विधान किया गया है। यदि किसी साध्वी को ऊर्ध्ववात चलता हो, बवासीर हो गयी हो, शूल उठा करता हो, उसके हाथ-पांव अपने स्थान से चल गये हों, शरीर के किसी एक अथवा सर्व अंग में वात उत्पन्न हुआ हो तो उसे अभ्यंगित करके निर्लोग चर्म में रखने का विधान है। इसी प्रकार यदि उसे हड़काया कुत्ता काट ले तो चर्म से विष्टित करके उसे व्याघ्न के चर्म में सुलाने का आदेश है। ध

वैद्यकशास्त्र के पण्डित

निशीथचूर्णी (४.१९५७) में वैद्यकशास्त्र के पण्डितों को दृष्टपाठी² कहा गया है। जैन ग्रन्थों में अनेक वैद्य (शास्त्र और चिकित्सा दोनों में कुशल), वैद्यपुत्र, ज्ञायक(केवल शास्त्र में कुशल), ज्ञायकपुत्र, चिकित्सक (केवल चिकित्सामें कुशल) और चिकित्सकपुत्रों का उल्लेख मिलता है। वैद्य-लोग अपने शस्त्रकोश लेकर घर से निकलते तथा रोग का निदान जानकर अभ्यंग, उबटन, स्नेहपान, वमन, विरेचन, बस्तिकर्म, शिरावेध, शिरोबस्ति, पुटपाक, छाल, वल्ली, मूल, कन्द, पत्र, पुष्प, गुटिका, औषध और भैषज्य आदि द्वारा राजा, ईश्वर, सार्थवाह, अनाथ, श्रमण, ब्राह्मण, भिक्षुक आदि की चिकित्सा करते थे। चिकित्साशालाओं (अस्पताल) का उल्लेख मिलता है जहां वेतन पानेवाले अनेक वैद्य काम करते थे।

१. बृहत्कल्पभाष्य ३.३८१५-१७ । चर्म के उपयोग के लिए देखिए - सुश्रुत, सूत्रस्थान ७-४, पृ. ४२ ।

२. ओघनिर्युक्तिभाष्य की टीका (पृ. ४१-अ) में चरक-सुश्रुत आदि के पण्डित को दृष्टपाठी कहा है।

सृष्ट्रत (१.४.४७-५०) में केवल शास्त्र में कुशल, केवल चिकित्सा में कुशल
 तथा शास्त्र और चिकित्सा दोनों में कुशल वैद्यों का उस्त्रेख है।

४. निशीथचूर्णी (११.३४३६) में प्रतक्षण शस्त्र (सर्पदंष्टके समय ऊपर से थोडी-सी त्वचा काटने के लिए), अंगुलीशस्त्र (नखभंग की रक्षार्थ), शिरावेधशस्त्र (नाड़ी बेधकर रक्त निकालने के लिए), कल्पनशस्त्र, लोहकंटिका, संड़सी, अनुवेधशलाका, व्रीहिमुख और सूचीमुख नामक शस्त्रों का उल्लेख किया गया है।

५. विपाकसूत्र ७, पृ. ४१ । ६. ज्ञातृधर्मकथा १३, पृ. १४३ ।

वैद्य लोग चीरफाड़ भी करते थे। जैनसूत्रों में दो प्रकार के व्रण बताये गये हैं – तद्भव और आगन्तुक। कुष्ठ, किटिभ, दद्रू, विचर्चिका, पामा और गंडालिया (पेट के कृमि) – ये तद्भव व्रण हैं, तथा जो व्रण खड्ग, कण्टक, ठूंठ, शिरावेध, सर्प अथवा कुत्ते के काटने से पैदा हो उसे आगन्तुक व्रण कहा गया है। वैद्य व्रणों को पानी से धोकर उन पर तेल, घी, चर्बी और मक्खन आदि चुपड़ते और गाय, भैंस आदि का गोबर लगाते। गण्डमाला, अर्श और भगन्दर आदि रोगों पर शस्त्रक्रिया की जाती थी। ध

इसके सिवाय, वैद्यलोग युद्ध आदि में घाव लग जाने पर मरहम-पट्टी करते थे। युद्ध के समय वे औषध, व्रणपट्ट, मालिश का सामान, व्रणसंरोहक तेल, व्रणसंरोहक चूर्ण, बहुत पुराना घी आदि साथमें लेकर युद्धस्थल पर पहुंचते और आवश्यकता पड़ने पर घावों को सीते।

जैन साधुओं की चिकित्सा

व्याधि से ग्रस्त होने पर जैन साधुओं को अपनी चिकित्सा के लिए दूसरों पर अवलम्बित रहना पड़ता था। यदि कोई साधु चिकित्सा में कुशल हुआ तो ठीक, नहीं तो रोगी को कुशल वैद्य को दिखाना पड़ता था। ऐसी हालत में यदि ग्लान साधु को वैद्य के घर ले जाना पड़ता और मार्गजन्य आतापना आदि के कारण उसका प्राणान्त हो जाता तो वैद्य रोगी को वहां लाने वाले साधुओं को आक्रोशपूर्ण वचन कहता। ऐसी हालत में सगुन विचार कर ही वैद्य के घर रोगी को ले जाने या उसे बुलाकर लाने का आदेश है। यदि वैद्य एक धोती पहने हो, तेल की मालिश करा रहा हो, उबटन लगवा रहा हो, राख के ढेर या कूड़ी के पास खड़ा हो, चीर-फाड़ कर रहा हो, घट या तुम्बीको फाड़ रहा हो या वह शिराभेद कर रहा हो तो उस समय

१. वृणोति यस्मात् रूढेऽपि, व्रणवस्तु न नश्यित ।आदेहधारणात्तस्माद्, व्रण इत्युच्यते बुधै: ॥ - सुश्रुत, सूत्रस्थान २१.३९ ।

२. निशीथभाष्य ३.१५०१ ।

३. निशीथसूत्र ३.२२–२४; १२.३२; निशीथभाष्य १२.४१९९ ।

४. निशीथसूत्र ३.३४ ।

५. व्यवहारभाष्य ५.१००-१०३ ।

उसके कुछ नहीं पूछना चाहिए । कितने ही प्रसंग ऐसे उपस्थित होते जब रोगी के अत्यधिक रुग्ण होने पर वैद्य को साधुओं के उपाश्रय में बुलाकर लाया जाता । उस समय आचार्य स्वयं उठकर वैद्य को रोगी को दिखाते और आवश्यकता होने पर साधुओं को उसके स्नान, शयन, वस्त्र, भोजन तथा दिक्षणा आदि की व्यवस्था करनी पड़ती ।

हरिणेगमेषी द्वारा महावीर के गर्भ का अपहरण

जैन सूत्रों में हरिणेगमेषी को इन्द्र की सेना के सेनापित (पायत्ताणीयाहिवइ) के रूप में चित्रित किया है। कहते हैं कि इन्द्र के आदेश से हरिणेगमेषीने अवस्वापिनी विद्या के बल से ब्राह्मणकुण्डग्राम की देवदत्ता (देवानन्दा) नामक ब्राह्मणी के गर्भ में अवतरित महावीर का अपहरण करके उन्हें क्षत्रियकुण्डग्राम की त्रिशला क्षत्रियाणी के गर्भ में अवतरित कर दिया। गर्भहरण की इस घटना का संक्षिप्त निर्देश आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में है। तथा विशेष वर्णन व्याख्याप्रशित (५.३) में उपलब्ध होता है।

महावीर के गर्भहरण की घटना यद्यपि आचारांग और व्याख्याप्रज्ञित्त जैसे प्राचीन सूत्र में मिलती है, फिर भी लगता है कि यह घटना पूरी तौरसे लोगों के मनमें आस्था न पैदा कर सकी । स्थानांग (१०) सूत्र में गर्भहरण

१. तुलना कीजिए सुश्रुत, सूत्रस्थान २९, अध्याय के साथ । यहाँ वैद्य के पास जाने वाले दूत का दर्शन, सम्भाषण, वेष, चेष्ठा, तथा नक्षत्र, वेला, तिथि, निमित्त, शकुन, वायु, वैद्य का देश तथा उसकी शारीरिक, मानिसक और वाचिक चेष्ठाओं का प्रतिपादन किया गया है ।

२. बृहत्कल्पभाष्य १.१९१०-२०१३; व्यवहारभाष्य ५.८९-९०; निशीथसूत्र १०.३६-३९; भाष्य २९६६-३१२२ ।

३. कल्पसूत्र २.२६ । विद्या और मन्त्र में अन्तर बताते हुए विद्या को स्त्री-देवता और मन्त्र को हिरणेगमेषी आदि पुरुष-देवताओं द्वारा अधिष्ठित कहा गया है, बृहत्कल्पभाष्य १.१२३५ ।

४. अंतगडसूत्र (३, पृ. १२) में हिरणेगमेषीका उल्लेख भिद्रलपुर के नागगृहपित की पत्नी सुलसा और कृष्ण की माता देवकी का परस्पर गर्भ-पिरवर्तन करनेवाले के रूप में आया है। आगे चलकर कृष्णने हिरणेगमेषीकी उपासना द्वारा अपने लघु भ्राता के रूप में गजसुकुमालको प्राप्त किया।

की घटना का दस आश्चर्यों में गिना जाना क्या इस तथ्य की ओर इंगित नहीं करता ?

तीर्थंकर नीच कुलों में जन्म नहीं लेते

गर्भहरण की घटना सम्भवत: जब सर्वसाधारण के बुद्धिग्राह्य न हुई तो एक और कल्पना की गयी। इस बात की घोषणा की गई कि अरहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव कभी तुच्छ, दिरद्र, कृपण, भिक्षु और ब्राह्मण कुलों में जन्म धारण नहीं करते। अवश्य ही यह कल्पना पहले की अपेक्षा कुछ अधिक बुद्धिसंगत जान पड़ती थी, लेकिन फिर भी गर्भहरण की गुत्थी ज्यों-की-त्यों बनी रही।

गर्भ-संक्रमण की अन्य सम्भावनाएं

'गर्भ-संक्रमण जैसे अशक्य कार्य को देवके हस्तक्षेप द्वारा शक्य बनाने की कल्पना को शास्त्र में क्यों स्थान दिया गया ?' इसकी ऊहापोह करते हुए सुप्रसिद्ध विद्वान् पण्डित सुखलालजी संघवीने इस प्रश्नका समाधान दो रूप में प्रस्तुत किया है- (१) त्रिशला सिद्धार्थ की अन्यतम पत्नी रही होगी जिसका अपना कोई औरस पुत्र नहीं था । स्त्री-सुलभ पुत्रवासना की पूर्ति के लिए उसने देवानन्दा के पुत्र को अपना पुत्र बनाकर रखा होगा, (२) महावीर यद्यपि बाल्य अवस्था से हिंसक यज्ञ और क्रियाकाण्ड-प्रधान ब्राह्मण परम्परा में पले थे, लेकिन किसी निर्ग्रन्थ भिक्षु के सम्पर्क में आने के कारण उनकी त्यागवृत्ति बलवती हो उठी होगी (चार तीर्थंकर पृ. ११०-११) ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह स्पष्टीकरण सन्तोषजनक नहीं लगता।

डाक्टर ए. के. कुमारस्वामीने अपनी 'स्पिरच्युअल ऑथोरिटी एण्ड टैम्पोरेल पावर' (पृ. ३२ का २४ वां फुटनोट) नामक पुस्तक में इस विषय की भिन्न प्रकार से ही समीक्षा की है। उनका मत है कि ऋग्वेद में उल्लिखित यम और यमीको भाई-बहन न समझकर उन्हें आकाश और पृथ्वी अथवा दिन

१. कल्पसूत्र २.२२; आवश्यकचूर्णी, पृ. २३९ । बौद्धों की निदानकथा १, पृ. ६५ में कहा है कि बुद्ध क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण नाम की ऊंची जातियों में ही जन्म लेते हैं, नीची जातियों में नहीं ।

और रात्रि का ही प्रतीक समझना चाहिए। इसी तरह डॉक्टर साहब का कथन है कि सौरमण्डल के जिन वीर पुरुषों का जन्म द्विमाताओं से स्वीकार किया गया है, उनके जन्म को वास्तव में दिव्य-मानव-जन्म समझना चाहिए, जिसकी भविष्यवाणी पहलेसे ही अनेक रूप में की जा चुकी होती है। लेखक ने यहां हैरेक्लीज़, अग्नि, बुद्ध, महावीर और ईसामसीह के उदाहरण प्रस्तुत कर अपने कथन का समर्थन किया है।

गर्भ-संक्रमण का यह स्पष्टीकरण आध्यात्मिक ही अधिक है, यथार्थता का अंश इस में भी नहीं है।

नैगमेषापहत-एक रोग

यह ठीक-ठीक कहना कठिन है कि हरिणेगमेषी द्वारा महावीर का गर्भ अपहत किये जाने की कल्पना जैन सूत्रों में कब से रूढ हो गयी, लेकिन वैद्यकशास्त्र से पता चलता है कि नैगमेषापहृत एक प्रकार का लीन गर्भ है जिसे उपशुष्कक अथवा नागोदर भी कहा गया है। कभी स्रोतों के, वात-उपद्रव से पीड़ित होने के कारण गर्भ सूख जाता है, माता की कुक्षि में वह पूर्णतया व्याप्त नहीं होता और उसकी हलचल मन्द पड़ जाती है। इससे कुिक्ष की जितनी वृद्धि होनी चाहिए उतनी नहीं हो पाती। इस गर्भ के कदाचित् अचानक शान्त हो जाने पर इसे नैगमेषापहृत कहा गया है। वस्तुत: वातिवृकृति का ही यह परिणाम है, लेकिन भूत-पिशाच में विश्वास करने वाले इसे नैगमेषापहृत कहने लगे। गर्भ के सूख जाने के कारण इसे उपशुष्कक, और कदाचित् शनै:-शनै: लीन हो जाने के कारण इसे नागोदर कहा है। इस रोग के निवारण के लिए स्त्री की मृदु स्नेह आदि से चिकित्सा करने का विधान है (देखिए, सुश्रुत, शारीरस्थान, १०६१)।

अतएव प्रस्तुत प्रसंग में हिरिणेगमेषी द्वारा गर्भ अपहृत किये जाने का यही अर्थ युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि नैगमेषापहृत रोग से ग्रस्त होने के कारण देवानन्दा ब्राह्मणी का गर्भ अचानक शान्त हो गया, और गर्भावस्था को प्राप्त त्रिशला क्षत्रियाणीने नौ महीने पश्चात् सन्तान को प्रसव किया। इस समय से देवानन्दा के गर्भहरण की किंवदन्ती लोक में प्रसिद्ध हो गयी और बाद में चलकर इस किंवदन्ती को बुद्धिसंगत बनाने के लिए इसके साथ ब्राह्मणों की अपेक्षा क्षत्रिय जाति की श्रेष्ठता की मान्यता जोड़ दी गयी।

भगवान् महावीन का गर्भापहन्ण : एक वास्तिवक घटना

विजयशीलचन्द्रसूरि

भगवान् महावीर का जीवन अनेक विशिष्ट एवं विलक्षण घटनाओं से भरा जीवन था। उनके जीवन में अनेक घटनाएं ऐसी घटित हुई थी, जो या तो सनसनीखेज बनने की गुंजाइश रखती थी, या तो अपार्थिव लगती थी। ऐसी ही एक घटना थी – 'गर्भापहार' की घटना।

जैन आगमों के अनुसार तीर्थङ्कर ब्राह्मण कुल में उत्पन्न नहीं होते, अत: माता देवानन्दानामक ब्राह्मणस्त्री की कोख में अवतरित हुए महावीर को, इन्द्र के निर्देशको पा कर, हरि-नैगमेषी नामक देवने, देवानन्दा की कोख में से लेकर, त्रिशला क्षत्रियाणी की कोख में स्थापित किये थे। इस घटना को जैन आगमों में 'गर्भापहार' या 'गर्भसंक्रमण' ऐसे नाम से पहचानी गई है।

कई लोग, जो विद्वान् है एवं विज्ञान की- वैज्ञानिक-दृष्टि से सोचते हैं, इस घटना को अवास्तविक एवं काल्पनिक मानते हैं। उनकी राय में गर्भस्थ भ्रूण का इस प्रकार कुक्षि-परिवर्तन हो, और वह भी २६०० साल पूर्व, यह नितान्त अशक्य है और अवैज्ञानिक भी। उन्होंने इस घटना का हल अपनी बुद्धि से ढूंढ निकाला भी है। जैसे कि पण्डित सुखलालजीने माना है कि ''त्रिशला को कोई सन्तित नहीं होगी, और अपनी पुत्र-लालसा को सन्तुष्ट करने हेतु उसने देवानन्दा के पुत्र को अपना पुत्र बनाया होगा; आगे जा कर यह बात को ग्रन्थकारों ने गर्भापहरण का रूप दे दिया होगा।

तो डॉ. जगदीशचन्द्र जैन का मन्तव्य ऐसा है कि आयुर्वेद के शास्त्रग्रन्थों में 'नैगमेषापहृत' नामक एक रोग है, जिस में गर्भ कोख में ही शुष्क होता हुआ मर जाता है। हुआ ऐसा होगा कि देवानन्दा का गर्भ इस रोग के कारण मृत हो गया होगा, और उसी के साथ साथ सगर्भा बनी त्रिशलाने पुत्र पैदा किया होगा, तो लोगोंने उसे 'गर्भापहार' मान लिया होगा।

गहराईसे सोचे जाने पर उक्त दोनों मान्य विद्वज्जनों की दोनों प्रकार

की कल्पनाएं अवास्तविक प्रतीत होती है।

पहली बात: देवानन्दा और त्रिशला दोनों भिन्न भिन्न क्षेत्रों में निवास करनेवाली महिलाएं थी। फिर, दोनों के बीच में कोई सख्य हो, सम्बन्ध हो, अथवा दोनों कभी मिली भी हो, ऐसा एक भी साक्ष्य या प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। दो औरतें आत्मीयतापूर्ण सख्य से जुडी हो और दो में से एक अपने पुत्र को दूसरी सखी को भेंट करें ऐसा होना अशक्य नहीं, किन्तु यहां तो दोनों के बीच कोई अनुबन्ध ही नहीं! इस स्थिति में ऐसा सोचना कि 'देवानन्दा के पुत्र को त्रिशलाने अपना पुत्र बना लिया होगा' केवल क्लिष्ट एवं अप्रतीतिकर, भ्रान्त धारणामात्र है।

दूसरी बात: रोगसे गर्भ का क्षीण होना यह अलग स्थिति है, और जीवन्त और निरामय भ्रूण का गर्भपरिवर्तन एवं जन्म होना अलग स्थिति है। ग्रन्थों में मिलते प्रतिपादन के अनुसार, देवानन्दा के गर्भ को कोई रोग नहीं था, और बाद में त्रिशलादेवीने जिसे जन्म दिया वह गर्भ/पुत्र भी निरामय ही था। गर्भस्थित महावीर का नि:स्पन्द होना कोई बिमारी नहीं थी, अपि तु परिपक्त गर्भने जान-बूझ कर निर्माण की हुई स्थिति थी।

अब इन दोनों स्थितियों को जोड दे कर बात करने में कौन सा तर्क है, समझ में नहीं आता। 'नागोदर' या 'नैगमेषापहत' ये दोनों तो गर्भ को क्षीण करनेवाले रोग का नाम है, और जैन आगमों में जो बात है वह तो निरामय गर्भ के कुक्षिपरिवर्तन की बात है। दोनों बातों का मेल कैसे बैठेगा?। 'हरि-नैगमेषी' देव और 'नैगमेषापहत' ये दो शब्दों की समानता को लेकर अगर दोनों बातों का मेल बैठाया जाय तो हो सकता है, किन्तु वह प्रतीतिकर नहीं हो सकता।

देवानन्दा को उक्त रोग लागू पडा था, उसका कोई प्रमाण तो है निह। जब कि गर्भसंक्रमण के बारे में तो एकाधिक शास्त्रों में पाठ मिल रहे हैं!। फिर, देवानन्दा जैसी कोई औरत को ऐसा रोग हुआ भी हो, तो उसकी नोंध लेने की जैन शास्त्रकार को आवश्यकता भी क्या होगी?। जिस व्यक्ति का और उसके जीवन की कोई घटना का जब महावीरस्वामी के जीवन से कोई अनुबन्ध ही नहीं है, तो उसकी जिक्र महावीर-चरित्रकार क्यों करेंगे?।

ब्राह्मण जाति को हीन दिखाने के वास्ते ऐसा किया गया, ऐसी दलील जरूर हो सकती है। लेकिन किसी जातिविशेष को हीन दिखाने के लिए, अपने इष्ट देव तीर्थङ्कर के साथ, इतनी जुगुप्साजनक (गर्भापहारकी) घटना जोड देना, यह कोई सच्चा भक्त कभी निह कर सकता। भद्रबाहुस्वामी या सुधर्मास्वामी जैसे श्रुतधर और परम जिनभक्त महात्मा तो ऐसी कुत्सित कल्पना नहीं ही कर सकते थे। फिर, वे स्वयं भी ब्राह्मणजाति के थे!। ब्राह्मण होकर ब्राह्मणजाति की हीनता सिद्ध करने की ऐसी चेष्टा वे करें, यह नितान्त असम्भव प्रतीत होता है।

एक बात, प्रसङ्गत:, स्पष्ट होनी चाहिए : कल्पसूत्र में जहां कौन से कुल में तीर्थंङ्कर पैदा निह होते उसका वर्णन लिखा है वहां, अन्तकुल, प्रान्तकुल, तुच्छकुल, दरिद्रकुल, भिक्षाचरकुल, कृपणकुल के नाम लिखे गये हैं, और इनमें से एक भी कल में ब्राह्मण जाति का समावेश नहि करके ब्राह्मणकुल को उसी वाक्य में अलग लिखा गया है। अगर ब्राह्मण कुल सर्वथा हीन माना गया होता, तो उसका नाम अलग न लिखकर उक्त किसी नाम के अन्तर्गत मान लिया जाता !। परन्तु अलग लिखा गया है, उसका तात्पर्य एक ही है कि अन्य सर्व अपेक्षासे उच्च जाति होते हुए भी ब्राह्मण जाति को अयोग्य इस लिए माना गया होगा कि ब्राह्मणों ने वेदों के माध्यम से पशुमेध, नरमेध इत्यादि घोर हिंसात्मक कर्मकाण्डों को धर्म का वैध रूप दिया था और उनकी यज्ञादिरूपेण प्रवृत्ति भी चालू थी। अब जैन धर्म एवं उसके प्रवर्तक तीर्थङ्कर तो ठहरे अहिंसामार्ग के परम उपासक और किसी भी प्रकार की हिंसा को अधर्म माननेवाले । ऐसे तीर्थङ्कर का अवतरण, ऐसी, हिंसा को धर्म माननेवाली जाति में हो, यह बात जैन परम्परा को किसी भी प्रकार से मान्य न हो. तो उसमें किसी जातिविशेष का अनादर मानना उचित नहीं लगता ।

एक सवाल यह भी होता है कि इस रोगका नाम 'नैगमेषापहृत' ही क्यों ?। 'गर्भक्षीणता', 'गर्भमृत्यु', 'मृतवत्स' जैसा कोई भी सार्थक नाम न देकर ऐसा निरर्थक नाम क्यों दिया होगा आयुर्वेदाचार्योंने ?। नैगमेषापहृत का शब्दार्थ तो ऐसा होगा कि जो (गर्भ) नैगमेष के द्वारा अपहृत हो । इस में

गर्भ के क्षय का या मरण का तो संकेत तक नहीं प्राप्त होता ।

अगर यहां ऐसी कल्पना की जाय कि जाय कि हरि-नैगमेषी देव के द्वारा महावीर का गर्भपरिवर्तन हुआ, बाद में वह घटना व्यापकरूप से लोग में-समाज में प्रसिद्ध हो गई होगी; और उसके पश्चात् कोई स्त्री के गर्भ को नागोदर जैसी बिमारी के कारण हानि हो, तो लोग उस स्त्री के गर्भ के लिए 'वह मर गया' या 'क्षीण हो गया' ऐसे आघातजनक शब्दप्रयोग को टाल कर 'तेरा गर्भ नैगमेषापहृत हो गया', यानी 'तेरे गर्भ को भी नैगमेष (देव) अपहरण करके कहीं ले गया होगा' ऐसा कहने लगे होंगे; तो वह क्लिष्ट कल्पना नहीं होगी।

वस्तुत:, कितने लोग जैसे धर्म के अन्ध भगत होते हैं, वैसे कितनेक लोग विज्ञान के भी अन्धे भगत होते हैं। उनके अनुसार धर्म की वे सब बातें गलत है, जिन्हें विज्ञान का आधार एवं समर्थन नहि मिलता। फिर, उस पुराने जमाने में भी विज्ञान जैसी चीज थी, ऐसा मानने को वे तैयार नहीं।

ऐसे लोग टेस्ट ट्यूब बेबी की बात को विज्ञान के चमत्कार के नाम पर स्वीकार लेंगे, मगर २६०० साल पूर्व भी ऐसा कोई ज्ञान-विज्ञान था कि जिसके बल से गर्भपरिवर्तन जैसी क्रिया भी हो सकती थी, ऐसा स्वीकार करने में उनको परेशानी होगी।

सार यही कि जहां गर्भापहरण की घटना को कल्पसूत्र, आचा-राङ्गसूत्र,विवाहपन्नतीसूत्र इत्यादि आगमों का स्पष्ट समर्थन है, उपरांत, मथुरा-उत्खनन में मिले हरि-नैगमेषी देव द्वारा गर्भापहार के शिल्प को याद करें, तो पुरातात्त्विक आधार भी है; वहां 'नैगमेषापहत' रोगवाली कल्पना को एक भी ग्रन्थ का समर्थन नहीं है। फिर भी अगर कोई विद्वज्जन या पृथग्जन उन सूत्रों को एवं इस घटनाको गलत समझे, 'धार्मिक मान्यता' कहकर उसका अस्वीकार करे, तो उसका कोई इलाज व उत्तर नहीं है। ऐसे लोगों की ऐसी अवैज्ञानिक कल्पना उन्हें ही मुबारक। हमें तो यकीन है कि कल कोई वैज्ञानिक प्रक्रिया किसी गर्भ का ट्रान्स-प्लैन्टेशन करके दिखाएगी तो ये लोग भी उसे विज्ञान के चमत्कार के रूप में, बिना हिचकिचाटके, मान लेंगे!। अस्तु।

विहंगावलोकन

उपा. भुवनचन्द्र

प्रशस्तिओ, शिलालेखो, प्रतिमालेखो ए इतिहासनुं एक महत्त्वपूर्ण साधन छे. अनु. ४५ मां अमदावादना शान्तिदास शेठे बीबीपुरमां बन्धावेला चिन्तामणि पार्श्वनाथ जिनालयनी प्रशस्ति आपणी सामे आवे छे. उद्ध्वस्त थई चूकेला आ मंदिरनी प्रशस्ति (८६ श्लोक) कोई मुनि/यतिए प्रतमां ऊतारी राखी हशे तेथी अमदावादना जैन इतिहासनी मूल्यवान सामग्री लुप्त थतां बची छे. आ प्रशस्ति अद्याविध अप्रकाशित छे के केम – ते सम्पादकोनी भूमिकामां स्पष्ट थतुं नथी.

प्रशस्तिमां पाण्डित्य अने काव्यरस भरपूर छे. प्रशस्ति/शिलालेखोमां मात्र जे ते मन्दिर-मूर्तिनी विगतो ज निह, बन्धावनार श्रेष्ठी-राजा तथा प्रतिष्ठाकारक आचार्य साथे सम्बद्ध अन्य विगतो पण अपाती होय छे. प्रस्तुत प्रशस्तिमां पण एवी पुष्कळ विगतो छे.

सम्पादक मुनिद्वये प्रशस्ति साथे सम्बन्धित तथ्यो विविध स्रोतोमांथी मेळवी यथोचित विचार-विमर्श कर्यो छे अने सम्पादकोने छाजे एवो परिश्रम कर्यानुं प्रमाण आप्युं छे.

'चतुर्दशस्वरस्थापनवादस्थलम्'- ए एक 'शास्त्रार्थ' स्वरूपनी रचना छे. विविध व्याकरणोना मतोना खंडन-मंडनमां रचयितानुं व्याकरणविषयक ज्ञान झळकी ऊठे छे.

सत्तरभेदीपूजाना विषयनी एक गुजराती रचना आ अंकमां छे. ए काव्यात्मक ओछी छे, वर्णनात्मक वधु छे- 'पूजा' नथी, पण पूजाविधिनी निर्देशक छे. सम्पादकोए नोंध्युं छे तेम प्राचीन काळे सत्तरभेदी पूजा विशेष लोकप्रिय हती. एमां एटलुं उमेरी शकाय के अन्य विविध प्रकारनी पूजाओ हती ज नहि. अति पुरातन समयमां 'स्नात्रमह' हतो, पछी सत्तरभेदी पूजानो प्रचार थयो. अन्य पूजाओ तो त्यार पछी विकसी छे.

आ स्तवननी वाचनामां थोडां संशोधन स्थान छे-

 क. १८
 अमल
 अमूल

 क. २०
 लहे[रे]
 [लह]लहे

 क. ३२
 निरला
 निरता

 क. ४४
 समी
 सती

'लोहमहत्थो' (क. ९)नुं मूळ 'लोमहस्त' छे. पूंजवा माटेनुं रूंछादार सुकोमळ उपकरण-मयूरिपच्छ अथवा कोई सुंवाळा घासमांथी बनाववामां आवे छे ते. क. १९ मां 'मोरी' छे, तेनो अर्थ 'धिरये' न थई शके. 'मोरी' वाचन-भूलथी के लिपिकारनी भूलथी थयुं हशे- 'चोरी[ये]' जेवो कोई शब्द अहीं होइ शके. 'वाहिया'-'धरनारा' निह पण 'खेंचायेला-तणाता' एवो अर्थ थाय.

'सम्यक्त्व स्तवन' शुद्ध रूपे छपायुं छे- अर्थात् तत्कालीन भाषास्वरूप जाळवीने सम्पादित थयुं छे.

'धरणविहार चतुर्मुख स्तव' रसाळ अने महत्त्वपूर्ण कृति छे. सम्पादक-श्रीए कृतिनो सारांश, पूर्वापर परिचय, पूरक विगतो पोतानी आगवी शैलीए आप्या छे. क. २९: 'पाविडया रांउिल' छे त्यां 'पाविडयारी ओलि' पाठ होवा सम्भव. क. ३० मां 'तेहजा मिल' छे, तेने बदले 'तेह जामिल' वांचवुं जोइए.

'पितर' (पितृ) विषे जैन-वैदिक परम्परानी मान्यता विषेनो अभ्यासलेख रसप्रद छे.

'ज्ञानमंजरी'नी प्रस्तावना रूपे लखायेलो शीलचन्द्रसूरिजीनो लेख ए टीकानुं रसदर्शन-स्वरूपदर्शन सुपेरे करावी जाय छे. श्रीमद देवचन्द्रजीनी आ टीकामां मूळ ग्रन्थना पाठभेद अने तेना कारणे अर्थभेद आव्यो छे, तेनां बे-त्रण उदाहरणो लेखके चर्च्यां छे. मूळ ग्रन्थकारे स्वोपज्ञ टबामां अर्थ आप्यो ज होय त्यारे तेनाथी भिन्न अर्थ करवामां औचित्य केटलुं ? एम करवुं ज होय तो पण, ग्रन्थकारने अभिप्रेत अर्थ बताव्या पछी एम करी शकाय. श्रीमद् एवुं औचित्य चूके निह. आथी एक सम्भावना एवी पण कल्पी शकाय के स्वोपज्ञ टबो श्रीमद्ना हाथमां त्यां सुधी कदाच आव्यो न होय, अने तेथी ज टीका रचवा तेओ प्रेराया होय. अलबत्त, ए निर्णय पर आववा माटे टीकानुं आन्तर-बाह्य परीक्षण तथा अन्य तथ्योनी गवेषणा करवां पडे. लेखकनुं ए विधान के 'ज्ञानमंजरी ए केवल टीकाग्रन्थ न बनी रहेतां ते श्रीमद्जीनुं आगवुं सर्जनकार्य छे' ते निर्ववाद छे.

जैन देरासर, नानी खाखर-३७०४३५, कच्छ, गुजरात

Perculiarities of Jain Mahārāṣṭrī Literature*

(A Brief Chronological and Subject wise Survey with Critical Remarks)

> **Dr. Nalini Joshi** Professor, H.N.Jain Chair, University of Pune.

Introduction: Jainology or Jain studies is a wholesome branch of knowledge in the perspective of Indian Culture. The edifice of Jain Tradition is based on four pillars, viz. 1) History or Antiquity, 2) Philosophy and Logic, 3) Literature and 4) Art and Sculpture. In the early years of my career, I entered Jainism through the gateways of Prakrit languages. Therefore, when I selected "Spectrum of Jainism in Maharashtra", my attention was immediately drawn towards Jain Mahārāṣṭrī literature. In this paper, Iwill try to draw a brief sketch of Jain Mahārāṣṭrī literature with its highlighs.

The variety of languages used by Jainas is stunning. No other religion in India had carried out its literary activities in various Prakrit dialects than Jainas. The ancient canonical texts of Śvetambares are written in Ardhamāgadhī and that of Digambaras in Jain Śauraseni. Vācaka Umāsvatī introduced Sanskrit in Jain literature by writing Tattvārthsūtra in Sūtra style (4th Cen. A.D.). Many Śve. and Dig. Ācāryas continued their writing in Skt., the language of classes, up to 15th Cen. A.D.. Ācārya Bhadrabāhu (IInd) started commentarial work on Ardhamāgadhī canons in Jain Mahārāṣṭrī in the 3rd Cen.A.D.by writing his Nijjuttis. All Śve. Ācāryas perferred J.M. for their literary activities in Prkt. up to 15th Cen. A.D.. In the meantime the religious and the philosophical teachings were written down in manuals in verse by scholars like Kundakunda, Vattakera and

^{*} A paper presented in a National Seminar arranged by K. J. Somaiya Study Centre in Jainism, Vidyavihar, Mumbai. (20th-21st October, 2008)

Yativṛṣabha and others up to the 12th Century. All these writings are included in the scope of Jain Sauraseni. The language found in all these books is fairly uniform but differs considerably from the Jain Mahārāstrī. Though Dig. continued their writings in JŚ. number of treatises is declining. Variety of subjects and literary forms is comparatively much less than that of JM. When Apabhramsa dialects took literary form, Dig. writers started their writings in Apa.. Though the first Apa. epic of Svayambhu was written in 8th - 9th Century A.D., Digambara Ācāryas were in their full form between 10th up to 15th centuries. Their language is fairly uniform and constitutes the bulk of Apa. literature mostly dedicated to Caritas. The most striking feature of the Apa. literature is the fact that the whole of it is written in verses and there hardly exists any prose in it. The Apa. Works written by non-jain writers are scanty. Chronologically last part of Apa. is practically the beginning of New Indo Aryan language.

The facts which we get through this brief language-sketch of Jain literatiure, gives rise to ample curiosities about the Peculiarities of JM. literature.

Mahārāṣṭrī and Jain Mahārāṣṭrī

In Bharata's Nāṭyaśastra, (2nd-3rd Cen. B.C.) Bhāṣās and Vibhaṣās are mentioned. Mahārāṣṭrī is not enumerated in it. Some Scholars try to prove that Dākṣinātyā of Bharata is Mahārāṣṭrī. Others did not agree with it. In Canḍa's Prākṛtalakṣana (3rd-4th Cen. A.D.) Vararuci's Prākṛtaprakāśa (6th Cen. A.D.) and in Siddhahemavyākaraṇa (12th Cen.A.D.) Mahārāṣṭrī is treated in the beginning as Sāmānya Prākṛta or Arṣa Prākṛta. From the date of Daṇḍin (6th Cen A.D.) onwards it is named Mahārāṣṭrī and is thought to be the best Prakrit in which famous epics were composed. (Daṇḍin-Kāvyāsdarśa 1.35). He says that the language originated in Mahārāṣṭrā is Mahārāṣṭrī.

Dr. Hornle points out that 'Mahārāṣṭra includes Rajputana and Madhyadeśa at that time. If we observe the proficiency of the Jain writers over this language, It is quite obvious that this

डिसेम्बर २००८

Mahā-rāṣṭra (big region) includes, todays' geographical Maharaṣṭra, lower part of Gujarat, Madhyapradesh and also upper part of Karnataka. At least we can assume that the people residing in this bigger central part of India were able to understand the Mahārṣṭrī used by Jain Ācāryas.

It is observed by the eminent scholars like Jacobi, Pischel and Konow that in classical Skt. dramas, the Prakrit used in prose passages by ladies and lower characters is Sauraseni. We can say that Mahārāṣṭrī used by non-Jain authors in Skt. dramas, Epics and Anthologies like Gāhāsattasai was quite favorable for poetical compositions. Jain Ācāryas used it for both, i.e. poetry as well as prose. The scholars like Jacobi and Pischel named it as Jain Mahārāṣṭrī. The name become very popular and accepted by late Dr. A.M.Ghatge in Prakrit-English comprehensive dictionary. Svetāmbara writers started their JM. writings in 3rd Century A.D. and continued up to 15th century A.D.. In the early centuries of Charistian Era, two prominent languages were in vogue viz. Śauraseni and Mahārāṣṭrī. During this period, the differences between Sve. and Dig. were quite clear. Since Dig. had already started their philosophical writings in Sauraseni, naturally Sve. writers chose Mahārāstrī for their post canonical writings. A new literary style was developed which was suitable for their philosophical, doctrinal, didactic and conductual writings.

Close association of Jain Acaryas with Maharastra:

Due to various reasons like severe famines, political unrest and foreign invasions, the religious activities of Jain Samgha were naturally shifted towards Madhya-deśa and Southern lands.

From the legendary histories of Jainas (viz. Vividhatirthakalpa, Prabandhakośa, Prabhavakacarita etc.) it is known that many influential Śve. Ācāryas were in close contact with Mahārāṣṭra.

It is known from the history of Ancient India that after the death of Aśoka, Āndhrabhṛtya Sātavāhana Kings ruled over

Mahārāṣṭra from 3rd Century B.C. up to 3rd Century A.D.. In Prabandhakośa, Rājaśekhara mentions,

सातवाहनोऽपि क्रमेण दक्षिणापथमनृणं विधाय तापीतीरपर्यंतं चोत्तरापथं साधयित्वा स्वकीयसंवत्सरं प्रावीवृतत् (Prabandhakośa. pp.66-74)

The 17th king of this dynasty was Hāla Sātavāhana, who become famous for his anthology viz. Gahāsattasai. Guṇāḍhya who is famous for his paiśācī narrative Vaḍḍakahā, is said to be an honoured poet in the assembly of Sātavāhana. Through all these legendary histories it is evident that all the Sātavāhanas were interested in Prakrits and especially in Mahārāṣṭrī. Pratiṣṭāna (or Paiṭhaṇa) and Nāsikya were the capital cities of Sātavāhanas.

According to Prbandhakośa, Niryuktikāra Bhadrabāhu and Varāhamihira were two brahmin brothers, residents of Pratiṣṭāna. Various legendary stories of both are mentioned in this Prabandha. The famous 'Uvasaggahara Stotra' was composed by Bhadrabāhu in his stay at Pratiṣṭāna. After the time-lapse of 800 years, it was necessary to write explanatory notes on Ardhamāgadhī canons. It was very much logical to write it in Prakrit, in continuation with the spirit of Lord Mahāvīra. Bhadrabāhu wrote ten Niryuktis in Prakrit Gathā form. Since he was the resident of Pratṣṭāna he chose Mahārāṣṭrī language which was naturally influenced by Ardhamāgadhī. Further Śve. Ācāryas wrote their Bhāṣya and Curṇis following the tradition laid down by Bhadrabāhu IInd.

The famous Jain Ācārya Kālaka (4th Cen A.D.) came to Pratiṣṭāna in the last lap of his wanderings. He had discussions with Sātavāhana about the date of Paryūṣaṇa. After this incidence, Kālaka stayed at Pratiṣṭāna until his death. Due to this association, there are at least three Kālakācārya-kathānakas written in JM. which were critically edited by Sten Konow.

Pādaliptācārya is a frequently quoted Śve. Ācārya of 5th Century. It is noted in Prabandhakośa that the arrived at Pratisṭāna and created a Campūkāvya named Taraṅgalolā. (प्रबन्धकोष pp.

11-14) This beautiful literary work (which is not available now) inspired many poets to write their poetries in JM.

The famous logician Siddhasena Divākara, his Guru Vṛddhavādī and Śantisūri, the first commentator of Uttarādhyayana were also closely connected with Pratiṣṭāna and Nāsikya during their wanderings.

This legendary and historical data is sufficient to throw light on the background of the bulk of Jain Mahārāṣṭrī literature.

Special Features of JM. Literature:

Niryuktis on 10 Ardhamāgadhī canons, some of the Prakirņakas, two Cūlikāsūtras, three Bhāṣyas along with Viśeṣāvaṣyaka and Cūrṇis of Jinadāsagaṇi - the language of all these works is generally known as Ārṣa Prākṛta because it is influenced by Ardhamāgadhī. Though Mahārāṣṭrī elements are prominent, still we find same linguistic charactristics of Māgadhī and Śaurasenī. Vimalsūri's Paumacariyam (4th Cen A.D.) is also included in this category. This narrative poetry was written excluding the impossible and illogical elements of Vālmīki-Rāmāyaṇa. This first Jain Rāmāyaṇa inspire many writers to present Rāmāyaṇakathā in Jain manner. The poetic justice given to the female characters (viz. Sītā, Añjanā, Kaikeyī and Mandodarī) is unique in itself.

Vasudevahindi jointly written by Samghadāsa and Dharmasena in 5th Cen. A.D. is also noted as a grant narrative presented in Ārṣa Prākṛta or old Jain Mahārhaṣṭrī. The part of the book viz. Madhyama Khanda shows the linguistic characteristics of Śaurasenī. In the history of Indian Literature, Vasudevahindī acquired very esteemed position due to its curious connection with Vaddakahā of Guṇādhaya.

In the 6th or 7th Century, the great Śve. logician Siddhasena wrote Sanmatitarka in JM. in which he discussed the Nayas, in a comprehensive manner on the view of Anekāntavāda. Sanmati is one of the very few JM. works on logic.

Haribhadra is the most celebrated, honoured and versatile author in the 8th century.

Throughout his life he wandered in Rājasthāna and Gujrat and never visited Mahārāṣṭra. It seems that with a sound background of Skt. he acquired the skills in JM.and produced (i) a huge prose narrative like Samaraiccakahā, (ii) a unique satirical work like Dhuttakkahāṇa which inspired Skt. Dharamaparikṣā and Apabhramśa Dhammaparikkha in the later period, (iii) first JM. book dedicated to Yoga in Jain manner (viz. Yogasayaya), (v) other treatises related to Karma theory, Monastic conduct, Layman's conduct, Didactic and Karaṇanuyoga. Haribhadra included a lot of folk stories, examples, fables and traditional religious stories in his commentaries on Āvassaya and Dasaveyāliya. Though the explanations of Sūtras are given in Skt., he had purposely used JM. for this stories.

Conclusively we can say that the JM. used by Haribhadra represents it's classical form. His language comes nearest to pure Mahārāṣṭrī. His vocabulary consists of a lot of old Gujrati deśī words, influence of Skt. in the use of *cvi* forms, compounds ending in *bhūya* (bhūta) and ample literary words. This classical form reaches its height in Kuvalayamālā of Uddyotanasūri. This monumental Campūkāvya, full of rich cultural data is written in the last lap of the 8th Century.

When we cast a glance to the 9th Century - literary, it is seem that the variety of subjects in remarkable. JM. works in this century are concerned to Philosophy, Anthology, Didactic, Karman, Hymns and Legendary histories. Śīlāṅka started the tradition of writing Caritas in JM. along with his commentaries on Ācārāṅga and Sūtrakṛtāṅga. Bappabhaṭṭi wrote his anthology Tārayaṇa, who was in the close contact with Vākpatirāja (Bappairāya) the poet of famous Mahārāṣṭrī work Gauḍavaho.

Virabhadra, beloging the 10th century, wrote his Prakīrņakas viz. Ārāhaṇapaḍāyā, Āurapaccakkhāṇa, Causaraṇa and Bhattapariṇṇa in Ārṣa Prakrit form. The language and

presentation of the subjects were so revered among the Śvetāmbaras that the Prakīrņakas were treated as a part of canonical literature. Devsana's works on logic, Devendrasūri's Kalakācārya Kathānaka, Dhanapāla's celebrated lexicon of Prakrit words and Nanditāḍhya's work on metrics (viz. Gāhālakkhaṇa) are the remarkable treatises of this century. Pradyumna's off-beat stories are also noteworthy which are included in Mūlasuddhipagaraṇa. Carita tradition is continued in this century.

In the 11th Century, we find nine Caritas written in JM. which are published up till now. Three of them are written by Devendra alias Nemicandra, famous author of Sukhabodhā, a comm. on Uttarādhyayana. Dhaneśvara's Surasundarīcariya gives sole importance to a woman character which is unique and has given rise to the tradition of women-centered Caritas. Many Kathākoṣas are written in which Devendra's Akkhāṇamaṇikoṣa, Guṇacandra's Kahārayaṇakoṣa and Jineśvara's Kathākoṣa-prakaraṇa are most important. Maheśvara's Ņāṇapañcamikahā started the tradition of Vratakathas. Prakaraṇas and Kulakas are the new literary forms developed in this century.

12th Century seems to be very crucial in the history of JM. literature. Tendency of writing in JŚ. is almost stopped. The number of Skt. works of Śve. and Dig. are rapidly increasing. JM. Works are almost equal to that of Skt. works. Apabhramśa works in this century had seen to be taken classical literary form. Digambara writers are writing Apa. works with full enthusiasm. Detailed grammer of Apa. is written by Hemacandra in his Siddhahemavyākaraṇa along with the examples of Apa. verses chosen from non-Jain background. The peak point of Jain logic is seen in Pramāṇamīmāmsā, a celebrated Skt. work of Kalikalāsarvajña Hemacandra. He continued the tradition of JM. writings by presenting his unique lexical works Deśināmālā and Kumārapālacarita. Maladhārī Hemacandra wrote the Tippaṇas on canons, Malaygīrī's huge commentarial work is the speciality

of this century. Municandra wrote five Kulakas and three Prakaranas. His Vanaspatisaptatikā is remarkable. Śrīcandra wrote in JM. and Skt. very fluently.

In the 13th Century, JM. literature is comparatively less than Skt. and Apabharamsa literature is steadily growing.

Thakkura Pheru, a treasurer of Allauddin Khilji wrote many scientific and technical works in 14th Century. His small treatises are extremely important in JM. literure. These treatises are dedicated to Numismatics, Metallurgy, Mathematics, Astrology, Gemmology and Architecture. Ratnaśekhara wrote on Ethics, Karaṇānuyoga, Caraṇānuyoga and Caritas. Jinaprabha's Vidhimārgaprapā is an authentic work on rituals. Growing ritualistic tendencies in Jain religion are reflected in Jinaprabha's other works also. Jayavallabha's anthology called Vajjālagga and Nayacandra's Prakrit drama - Saṭṭaka are two remarkable works of this century.

In the 15th Century, JM. works show declining tendency. Jinaharsa, Somacandra, Śubhavardhana, Sakalakirti and Cārītravardhana wrote in JM. but the variety of subjects and literary forms is not seen. Caritas and Kathākoṣas are ample in number but lack in originality and imitation prevail over creativity.

This is the brief sketch of JM. literature from 3rd Century A.D. up to 15th Century A.D..

CONCLUSION

Important Observations about JM. Literature:

- * In no other Prakrit language than JM. such a huge literature is produced in India for such a long period (from 3rd Cen A.D. up to 15th Cen. A.D.)
- * Since the Dig. had already chosen Śauraseni for their literary activities, Śve. writers had naturally undertaken Mahārāṣṭrī.

* Mahārāṣṭrī was understandable in the bigger middle region of India during this period.

- * Skt. was the medium of higher education, so naturally Scientific and Technical works and Classical literature of non-Jain traditions is ample in quality and quantity. Lord Mahāvīra was very keen about his religions sermons through Prakrit medium. JM. played the role of Rāṣṭrabhāṣā at that time. Now-a-days though the medium of higher educaiton is English, still Hindī possesses a status of Rāṣṭrabhāṣā, likewise side by side with the regional colloquial languages and Skt., JM. played an important role. Śve.writers continued JM. writings followings the footsteps of Lord Mahavīra.
- * The earlier Śve. Jain Ācāryas like Bhadrabāhu, Kālakācārya, Pādalipta etc. were closely associated with Mahārāṣṭra and specifically Pratiṣṭhāna. Nearly for six centuries Satavāhanas ruled over Mahārāṣṭra who were pro-prakrit by nature and liberal in religious matters.
- * JM. had undergone three distinct stages during this long period of twelve centuries.
 - (i) Ist Stage: 3rd to 6th Century.

The various Niryuktis, Bhāṣyas, Cūrṇis and the narrative works like Paumacariya, Vasudevahiṇḍī and others may be taken to represent the archaic form of JM.. It was infludnced by Ardhamāgadhī.

(ii) IInd Stage: 7th to 10th Century.

In its classical form, as represented by Haribhadra, Uddyotanasūri, Śilāṅka and Dhanapāla, it shows influence of Skt. but still maintaining tendencies of colloquial languages in variety of forms and the use of Deśi words.

(iii) IIIrd Stage: 11th to 15th century.

The late form of JM. is best seen in the stories of Devendra

in Utt. Sukh. and the anthology called Vajjālagga. Here we see a strong influence of the Apabharamsa dialects making it felt both in its phonology and grammar. This Apa. influence originates from the spoken languages of the authors.

After 15th Century we see that JM. is declining and Apa. is increasing. From the 16th and 17th Centuries, the history of our modern Indo-Aryan Languages Starts.

Though variety of subjects and literaty forms is obviously seen in JM. literature, it is a fact that scientific and technical works as well as words on Logic are comparatively much less than in Skt. But the role played by JM. in providing rich Cultural, Social and Religious data is really very useful in understanding Indian culture in better manner. No other Prakrit language than JM. is capable in throwing light on the life of masses in India during this long period.

C/o. Ganeshkhind Pune, 411007

BIBLIOGRAPHY

- जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग १ से ६, पार्श्वनाथ विद्यात्रम शोध संस्थान, वाराणसी ५, १९७३
- २. प्राकृत साहित्य का इतिहास, डॉ. जगदीशचंद्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९८५
- प्राचीन भारताचा सांस्कृतिक इतिहास, गायधानी, राहुरकर, कॉंटिनेन्टल प्रकाशन, पुणे २, १९६१
- ४. प्राचीन भारताचा राजकीय इतिहास, ले. हेमचंद्र रायचौधुरी, अनु. आठवले, बोपर्डीकर, डायमंड पब्लिकेशन, पुणे ३०. २००६
- Gracial Prakrit Languages, Fascicule 1, A.M. Ghatge, 1993
- ६. पाइअ-सद्द-महण्णवो, उपोद्घात-पं. हरगोविंददास शेठ, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९८६
- ७. विविधतीर्थकल्प, जिनप्रभ, सिंघी जैन ज्ञानपीठ, शान्तिनिकेतन, १९३४
- ८. प्रबन्धकोष, राजशेखर, र्सिघी जैन ज्ञानपीठ, स. जिनविजय, शान्तिनिकेतन, १९३५
- ९. प्रभावकचरित, प्रभाचन्द्र, सिंघी ज्ञानपीठ, सं. जिनविजय, अहमदाबाद, १९४०
- १०. प्रबन्धचिन्तामणि, मेरुतुग, सिंघी जैन ज्ञानपीठ, सं. जिनविजय, शान्तिनिकेतन, १९३३

माहिती

तवां प्रकाशतो

१. कथारत्नसागर : कर्ता : मलधारगच्छीय श्रीनरचन्द्रसूरि; सं. आ. विजयमुनिचन्द्रसूरि; प्र. आचार्य ॐकारसूरि आराधना भवन, सूरत, सं. २०६४

प्राचीन ताडपत्रादि प्रतिओना आधारे थयेलुं उपयुक्त सम्पादन. आजपर्यन्त आ ग्रन्थ अप्रकट हतो. १३ मा सैकानी एक सुन्दर रचना आपणने आ पुस्तकरूपे उपलब्ध थाय छे, अने ते रीते एक मूल्यवान ग्रन्थनो उद्धार पण थयो छे.

२. श्रीआचाराङ्गसूत्रम् (हिन्दी पद्यानुवाद) अनुवादक: स्व. आचार्यश्री विजयसुशीलसूरि; सं. आ. विजयजिनोत्तमसूरि; प्र. सुशीलसाहित्य प्रकाशन सिमिति, जोधपुर; सं. २०६४

आचाराङ्गसूत्रना प्रथम श्रुतस्कन्धनो दुहा छन्दमां हिन्दी भाषामां थयेल सरल पद्यानुवाद, बाल जीवोने पवित्र आगमसूत्रना गम्भीर भावोने समजवामां उपकारक नीवडे तेम छे. साहित्यसेवी अने सर्जक आचार्यश्रीनी सर्जक प्रतिभानो एक नवो अने मधुर उन्मेष आमां प्रगट थयो छे. केटलांक, विषयानुरूप, सुन्दर चित्रोथी ग्रन्थ विशेषे सुशोभित बन्यो छे.

३. षोडशकप्रकरण (सानुवाद), कर्ता : श्रीहरिभद्रसूरि; वृत्ति : श्रीयशोभद्रसूरि तथा उपाध्याय यशोविजयजी; अनुवाद : आ. मित्रानन्दसूरि. प्र. पद्मविजयजी गणि जैन ग्रन्थमाला ट्रस्ट, अमदावाद; सं. २०६१

मूलग्रन्थ अने तेनी बन्ने टीकाओनो सरल, बालजीवोने उपकारक अनुवाद.

४. सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन-व्याकरण-बृहद्वृत्ति ऊपर कोई विद्वान् मुनिराजे 'दुण्टिका' टीकानी रचना करी छे. सम्भवतः १५मा के १६मा शतकनी ए रचनानुं हस्तप्रतिओ परथी सम्पादन मुनि विमलकीर्तिविजयजी करी रह्या छे. तेनो प्रथम विभाग प्रगट थई गयेल छे. व्याकरणना अभ्यासीओने उपयोगी ग्रन्थ. प्र. कलिकालसर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य नवम जन्मशताब्दी स्मृति संस्कार शिक्षणनिधि-अमदावाद, सं. २०६५.

५. कुमारपालचरित्रसंग्रह : सं. मुनिजिनविजयजी; पुन: सं. डॉ. जितेन्द्र शाह, साध्वीश्री चन्दनबालाश्रीजी; प्र. श्रुतरत्नाकर, अमदावाद; सं. २०६४, ई. २००८.

विश्वविख्यात सिंघी ग्रन्थमालाना ४१मा ग्रन्थरूपे, वर्षो पूर्वे प्रकट थयेल आ ग्रन्थनुं आ पुनः मुद्रण छे. मुनिजीए पोताना सम्पादनमां परिशिष्ट रूपे आपेल 'शुद्धिवृद्धिपत्रक'नो उपयोग, आ नवा संस्करणमां मूळ जे ते स्थानोमां करी लेवामां आव्यो छे. केटलुंक पाठ-शोधन पण सद्य उपलब्ध आधारोने अनुसरीने करवामां आव्युं छे. नवी प्रतिओ मळी होय के तेना आधारे पुनः सम्पादन थयुं होय तेवुं जणातुं नथी. एक अप्राप्य बनेल ग्रन्थने पुनः उपलब्ध करावी आपवानुं श्रेय पुनःसम्पादक-प्रकाशकने फाळे जरूर जशे.



(Courtsey: The Royal Asiatic Society, London)

